साहित्य

215

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्वैमासिक पत्रिका

मई-जून, 2021

समकालीन भारतीय साहित्य

वर्ष : 41, अंक : 215, मई-जून, 2021

005 **संपादकीय** : आ से आरंभ

सृजन संसार

009 **विजय शर्मा** : **गार्सिया मार्खेज़** की जादुई दुनिया

018 **प्रेम जनमेजय** : लोकप्रियता का **कोहली** दर्शन

035 **गौरहरि दास** : चेतना के चित्रकार **मनोज दास**

041 **राजेंद्र राजन** : मिस्त्री से प्रोफ़ेसर हुए **कज़ाक**

कविता

048 **लीलाधर मंडलोई** : यही एक और होना था बाक़ी

050 **हरिमोहन** : पुकार, प्रेम, हम कहानियों में नहीं थे

052 **याकूब** : कभी न ख़त्म होने वाला सफ़र (तेलुगु)

055 **वाणी बसु** : नाच बेहुला, नाच (बाङ्ला)

057 **विवेक मिश्र** : लिखनी ही होगी एक कविता

058 **वीरेंद्र आज़म** : आज भी वहीं खड़ा है वह

059 **दीपक मंजुल** : मेरे बाबूजी, किताब

061 **प्रवीण कुमार** : आस्था और विश्वास

063 **निवेदिता झा** : प्रेम, बुद्ध नहीं बनना

065 **जगदीश पंकज** : अगिनपाखी, भाषा के बीहड़ में

कहानी

067 **ज़हीर कुरेशी** : नया सबक़

076 **सुभाष चंदर** : एक थी बिट्टो रानी

084 **क्षेत्रबासी नायक** : निर्वासन(ओड़िया)

088 **नामदेव** : नीला आसमान

093 **वाणी दवे** : बाँस के फूल

096 **शोभा भारती** : उनका बच्चा

105 **उमाकांत खुबालकर** : कर्मचारी तंत्र

आकलन

108 **दामोदर खड़से** : दुखों का समाजशास्त्री **लिंबाले**

123 **रविरंजन** : जीवन और शब्दकर्म **रणसुभे** का

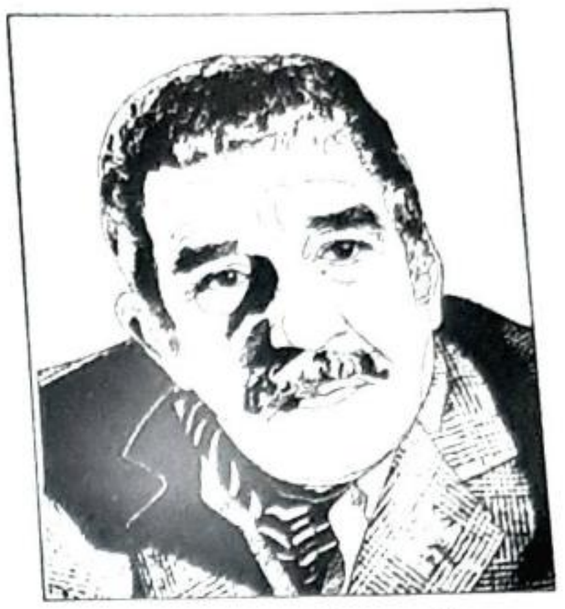

गैब्रियल गार्सिया मार्खेज़

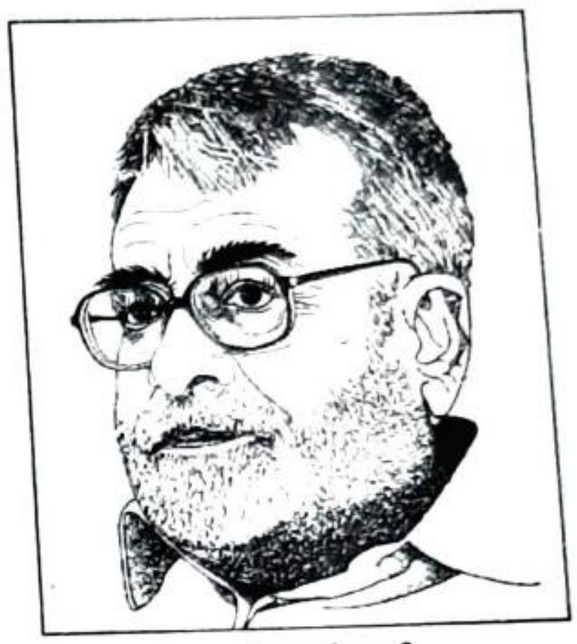

नरेंद्र कोहली

मनोज दास

शरण कुमार लिंबाले

Hindi Books Novels Room
@VipBooksNovels
SEARCH ON TELEGRAM
@VipBooksNovels

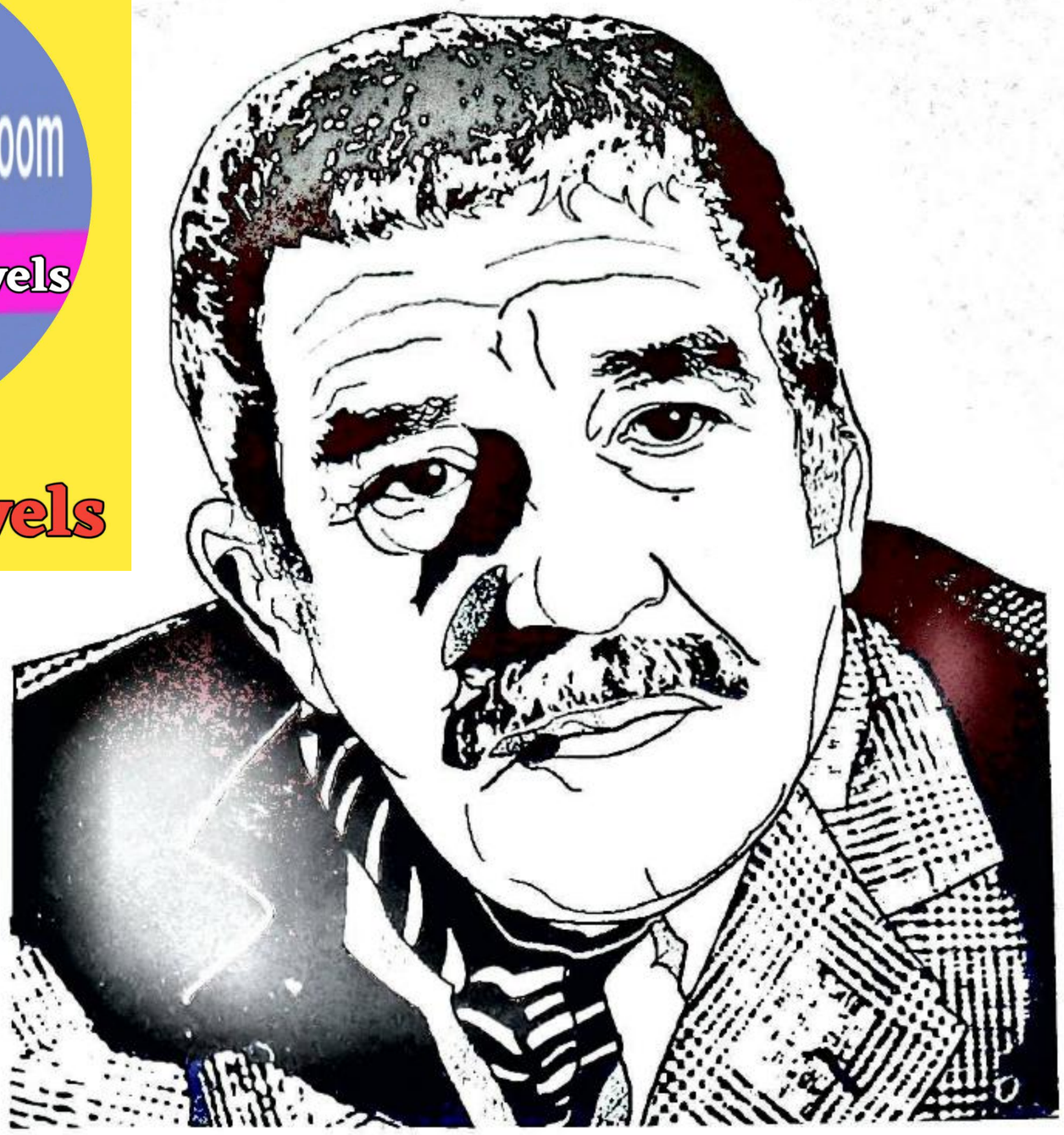

मार्वेज़ की जादुई दुनिया

विजय शर्मा

एक व्यक्ति जिसने परिवार की इच्छा के विरुद्ध अपने स्वप्न को साकार करने के लिए क़ानून की पढ़ाई बीच में छोड़ दी हो, जिसका परिवार आर्थिक संकट से गुज़र रहा हो, जो यारबाश के रूप में जाना जाता हो, यदि वह व्यक्ति महीनों कमरे के बाहर दिखाई न दे तो परिवार, आस-पड़ोस और दोस्तों के बीच खलबली मचना लाज़िमी है, मगर उसकी पत्नी को उस पर पूरा भरोसा था। वह परेशान थी, आर्थिक मोर्चे पर कठिनाइयाँ झेल रही थी, साथ ही अपने पति की निजता का सम्मान करते हुए दूसरे लोगों को उससे मिलने नहीं दे रही थी। दो छोटे-छोटे बच्चों, घर और पति की पूरी ज़िम्मेदारी सँभाले हुए यह स्त्री अपने प्रेमी-पति के स्वप्न को साकार करने में प्राणप्रण से जुटी हुई थी। बात सन् 1965 की है। कौन था यह व्यक्ति? क्या था उसका स्वप्न? कौन थी उसकी पत्नी? क्या वह स्वप्न साकार हुआ? आइए, एक-एक कर सब कुछ देखते-समझते हैं।

यह सन् 1965 था, पिछली सदी का सातवाँ दशक। स्थान लैटिन अमेरिका का मैक्सिको शहर। और यह अनोखा व्यक्ति था गैब्रियल गार्सिया मार्खेज़। वही गैब्रियल गार्सिया मार्खेज़, जिसे सन् 1982 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिला और जिसने जादुई यथार्थवाद और लैटिन अमेरिका को दुनिया में प्रसिद्ध कर दिया। 6 मार्च, 1927 को कोलंबिया के कैरेबियन

तट पर स्थित एक छोटे-से शहर अराकटाका में जन्मे गैब्रियल को दोस्त प्यार से गाबो पुकारते थे। वे अपने माता-पिता की प्रथम संतान थे और उनसे अपेक्षा थी कि वे परिवार की आर्थिक स्थिति मज़बूत करने में हाथ बँटाएँगे। उनसे छोटे-बड़े एक दर्ज़न भाई-बहन थे। उनके पिता के कई अन्य संबंध थे, जिनसे उनके अन्य सौतेले भाई-बहन भी इस परिवार में शामिल थे, मगर इस युवक का सपना एक लेखक बनने का था। सो, क़ानून की पढ़ाई अधूरी छोड़ कर गाबो ने लिखने की ओर रुख़ किया और पत्रकारिता की राह पकड़ी। जीवन भर ख़ुद को पत्रकार-लेखक माना।

संयुक्त परिवार में नाना-नानी के यहाँ उनका बचपन बीता। तमाम यार-दोस्त थे, जिनमें लेखक-पत्रकार तो थे, साथ में तमाम सरकारी और नामी-गिरामी लोग शामिल थे। पत्नी बनी मर्सिडीज़ बार्चा, जिससे उन्होंने तब प्यार जताया था, जब वह एक किशोरी थी। बाद में उसी से शादी की और जो अंत तक उनके साथ रही। उनके दुख-सुख में शामिल इस स्त्री ने सदा ख़ुद को अपने पति के पीछे रखा, उसकी सुख-सुविधा का ख़याल किया, ज़रूरत पड़ने पर उसकी तीमारदारी की। ऐसे व्यक्ति ने ख़ुद को कमरे में बंद कर लिया और मर्सिडीज़ ने एकाध दिन या एकाध महीने नहीं, पूरे अट्ठारह महीने तक सब कुछ सँभाले रखा। हाँ, इस बीच घर की एक-एक चीज़ गिरवी रख देनी पड़ी। मर्सिडीज़ ने दोस्त-यारों, मिलने-जुलने वालों को बाहर रोके रखा। लोग ख़ूब सहायक रहे, क्योंकि बात फैल गई थी कि गाबो कुछ रच रहे हैं। और जब गाबो बाहर निकले तो उनके हाथ में थी 1,300 पन्नों की पांडुलिपि। ऐसी पांडुलिपि, जिसने प्रकाशित होते ही दुनिया में खलबली मचा दी। उन्होंने एकांत में बैठ कर 'एकांत के सौ वर्ष' (वन हंड्रेड इयर्स ऑफ़ सॉलिट्यूड) रचे थे।

महत्त्वाकांक्षी मार्खेज़ लिख तो इसके पहले भी रहे थे। वे कहानियाँ, फ़िल्मों के सबटाइटल्स तथा स्क्रीन प्ले लिख रहे थे, मगर अपने लेखन से न तो संतुष्ट थे, न ही ख़ुश और न ही उन्हें वह प्रसिद्धि मिल पा रही थी, जिसके वे आकांक्षी थी। उन्होंने ख़ूब पढ़ा था, ज़िंदगी भर ख़ूब पढ़ा। वे विलियम फ़ॉकनर, जॉर्ज लुई बोर्ख़ेज और अर्नेस्ट हेमिंग्वे से प्रभावित थे और इन्हीं की तरह लिखना और प्रसिद्ध होना चाहते थे। हालाँकि उन्होंने कभी इन लेखकों की नक़ल नहीं की, अपनी अनोखी शैली विकसित की। गैब्रियल गार्सिया मार्खेज़ शुरू से प्रसिद्धि चाहते थे और अंत तक उन्होंने अपनी प्रसिद्धि के लिए जम कर काम किया। इसके पहले की पत्रकारिता और छिटपुट लेखन से इतनी आय नहीं हो रही थी कि परिवार आराम से रह सके। केवल किताब लिखना और प्रकाशित करवाना काफ़ी नहीं होता, उसे लोगों तक पहुँचना भी चाहिए। किताब छपने से पहले ही वे उसका प्रचार-प्रसार प्रारंभ कर देते थे।

जब 'वन हंड्रेड इयर्स ऑफ़ सॉलिट्यूड' लिखी जा रही थी, तब उन्होंने इसके कुछ अध्याय अपने लेखक मित्र कारलोस फुंटेस को दिए थे, जिसके साथ मिल कर उन्होंने स्क्रीन प्ले लिखा था। और मित्र ने मित्रता का धर्म निभाते हुए इस बात का प्रचार-प्रसार किया कि मार्खेज़ एक उत्कृष्ट उपन्यास लिख रहे हैं। उन्होंने एक पत्रिका में लिखा : "मैंने मार्खेज़ के

लिखे 80 पन्ने पढ़े हैं।' मार्खेज़ ने उपन्यास के कुछ अंश पत्रिकाओं में प्रकाशित करवाए। इन सबने मिल कर प्रकाशन पूर्व उपन्यास की एक मज़बूत स्थिति निर्मित कर दी। और प्रकाशन के बाद जिसे कहते हैं—'रेस्ट इज़ हिस्ट्री'।

'वन हंड्रेड इयर्स ऑफ़ सॉलिट्यूड' मार्खेज़ का पहला काम न था। वे इसके पहले 'द थर्ड रेजिग्नेशन', 'एवा इज़ इनसाइड हर कैट', 'इन इविल ऑवर' आदि लिख चुके थे। उन्हें मालूम था कि वे इन कामों के लिए पैदा नहीं हुए हैं। वे सृजनात्मक लेखन करना चाहते थे, कुछ महान रचना चाहते थे। उन्हें मालूम था कि इसी में उनका भविष्य है। 'इन एविल ऑवर', के साथ एक हादसा हो चुका था। पहले मेड्रिड में एक स्पैनिश प्रकाशन गृह ने उनके इस काम को प्रकाशित किया और पांडुलिपि के साथ मनमानी की। भाषा के स्तर पर तमाम 'सुधार' किए थे। जितने भी कोलंबियन बोलचाल के शब्द थे, सबको सुधार कर स्पैनिश के आदर्श शब्दों में परिवर्तित करने का द्रविड़ प्राणायाम किया गया था। स्थानीय इत्र उड़ा कर उसमें बनावटी ख़ुशबू छिड़की गई थी। इतना ही नहीं, संपादकों को जो दृश्य और कथन अनुचित जान पड़े, उन्हें भी उन्होंने हटा दिया। इस औपचारिक, कुलीन प्रकाशित अपनी (कु) कृति को देख कर गैब्रियल गार्सिया मार्खेज़ ने सिर पीट लिया। बाद में सन् 1962 में मार्खेज़ ने इसे फिर से अपने लेखन के साथ प्रकाशित करवाया। इस संस्करण में उन्होंने एक टिप्पणी भी जोड़ी, ''जब सन् 1962 में 'ला माला होरा' ('इन इविल ऑवर' का स्पैनिश-नाम) पहली बार प्रकाशित हुआ, एक कॉपी-संपादक ने कुछ मामलों और भाषा की शुद्धता के नाम पर अनमनीय शैली बनाने की ख़ुद को इजाज़त दे दी। इस अवसर पर लेखक ने अपने मामले में ख़ुद को प्रभुता तथा मनमानी करने की छूट लेते हुए मुहावरों की अशुद्धता और शैली की बर्बरता को पुनर्स्थापित किया है।'' वे अपने लेखकीय दायित्व के प्रति बहुत सतर्क थे।

मार्खेज़ ने अपने सारे लेखन की सामग्री अपने निजी जीवन और अपने पत्रकारीय जीवन से उठाई है। अपने रचनात्मक कार्यों में उन्होंने एक समय के अपने निवास स्थान सुक्रे को जीवंत किया, कभी नाम ले कर कभी अनाम रख कर। 'वन हंड्रेड इयर्स ऑफ़ सॉलिट्यूड' उनका आत्मकथात्मक काम है। बचपन नाना-नानी की कहानियाँ सुनते हुए बीता। नाना-नानी दोनों विलक्षण क़िस्सागो थे। नाना अपने युद्ध के अनुभवों से बालक को समृद्ध कर रहे थे तो नानी भूत-प्रेत और अतिइंद्रिय कहानियों से बालक की कल्पना को पंख प्रदान कर रही थीं। दोनों की कथाशैली का विस्तार कर मार्खेज़ ने अपनी शैली विकसित की और अतियथार्थवादी जादुई शैली में अपना रचना संसार निर्मित किया। अपनी सौ साल की गाथा 'वन हंड्रेड इयर्स ऑफ़ सोलिट्यूड' में उन्होंने मनुष्य जीवन के सारे आयाम, सारे पहलुओं को साकार कर दिया, जिसके कारण उनकी तुलना हरमन मेलविल, जेम्स जॉयस, नॉबोकोव, मार्सल प्रूस्त और विलियम फ़ॉकनर आदि न जाने किस-किस कथाकार से की जाती है। यहाँ वे मकोंडो बसाते हैं और उस स्थान को साहित्य में ऐसा अमर कर देते हैं कि यात्री और पर्यटक उसे देखने पहुँचने लगते हैं। सन् 1972 में उनकी 'एरेंडिरा तथा अन्य कहानियाँ' प्रकाशित हुई। अगले साल उन्होंने अपने पत्रकारीय जीवन के 20 सालों का लेखा-जोखा

'व्हेन आई वॉज़ हैप्पी एंड अनइन्फ़ॉर्म्ड' प्रकाशित की और दो साल बाद लैटिन अमेरिका के एक तानाशाह पर उनका काम 'ऑटम ऑफ़ द पैट्रियाक' प्रकाशित हुआ।

मार्खेज़ शुरू से लैटिन अमेरिका की राजनीतिक उथल-पुथल और भ्रष्टाचार के गवाह रहे और इसे उन्होंने अपने लेखन में भरपूर स्थान दिया। यहाँ वे तानाशाह काल में देश के पतन को चित्रित करते हैं। विस्तार से दिखाते हैं कि कैसे एक ग़लत आदमी के हाथ में देश-दुनिया का सत्यानाश हो सकता है। लंबे वाक्य और विराम चिह्नों का प्रयोग इस उपन्यास की शैली को थोड़ा अटपटा बनाता है। छह साल बाद सन् 1981 में एक लंबे समय से पेंडिंग पड़ी उपन्यासिका आयी—'क्रॉनिकल ऑफ़ अ डेथ फ़ोरटोल्ड'। इसके आने में देर का कारण वास्तविक था। यह कथा उनके अपने जीवन और परिवार से जुड़ी थी। कई दशक पहले उनके एक मित्र की हत्या हुई थी। वे तभी उस पर लिखना चाहते थे, मगर उनकी माँ लुइसा सेंटियागो ने मना किया, क्योंकि घटना के गवाह कई लोग जीवित थे और घटना राजनीतिक हलचल के समय हुई थी। इस रचना पर पिछले दिनों 'मृत्यु : विश्व साहित्य की एक यात्रा' छपी है।

गैब्रियल गार्सिया मार्खेज़ मात्र 55 साल के थे जब उन्हें सन् 1982 में नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। हालाँकि इस पुरस्कार को पाने वाले लैटिन अमेरिका के वे चौथे लेखक थे। इसके पहले चिली की गैब्रियेला मिस्त्राल (1945), ग्वाटेमाला के मिग्युअल अस्टुरिआस (1967) तथा चिली के पाब्लो नेरुदा (1971) को नोबेल पुरस्कार मिला था। फिर भी उनके नाम की घोषणा होते ही पूरा स्पैनिश भाषा-भाषी समाज ख़ुशी से नाच उठा। मैक्सिको की सरकार ने उसी दिन उन्हें 'एज़टी ईगल मेडल' से नवाजा। यह पदक इस सरकार द्वारा किसी विदेशी को दिया जाने वाला सर्वोच्च सम्मान है। क्यूबा प्रशासन ने उन्हें सर्वोच्च बुद्धिजीवी सम्मान 'फ़ेलिक्स वरेला मेडल' दिया। उनके अपने देश कोलंबिया की सरकार, जो एक साल पहले तक मार्खेज़ को गिरफ़्तार करना चाह रही थी, उसने उन्हें वापस देश बुलाने की पेशकश की। सारी दुनिया से बधाई के तारों का ताँता लग गया, जिसमें परिवारजनों, लेखक-मित्रों के साथ कई राज्याध्यक्ष शामिल थे।

जब वे नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने पहुँचे तो उन्होंने अपनी प्रिय सफ़ेद पोशाक पहन रखी थी। वे सूट-बूट में नहीं थे। उन्होंने उस समय उत्तरी कोलंबिया के किसान की अनौपचारिक पोशाक धारण की हुई थी, जबकि लोग बरसों से इस पुरस्कार के प्राप्त होने की आशा में सूट सिला और टाई ख़रीद कर रखते हैं। और हाँ, इस मौक़े पर उन्होंने अपने विश्वास के अनुसार अपने सौभाग्य का प्रतीक पीला गुलाब भी ले रखा था। जी हाँ, मार्खेज़ कई बातों को लेकर अंधविश्वास की हद तक जाते हैं। जैसे लिखी जा रही रचना के विषय में किसी को पहले सच न बताना। वे लिख रहे होंगे कुछ और बता रहे होंगे कुछ और। एक साथ दो रचनाएँ करते—एक प्रकाशन के लिए और दूसरी सुनाने के लिए। उनका एक और विश्वास था कि स्त्रियाँ उनके लिए भाग्यशाली होती हैं। वे जिस काम में उनका साथ देती हैं, वह सफल होता है। केवल मर्सिडीज़ को ही वे अपने लिए भाग्यशाली नहीं मानते थे। उनकी एक

अनुवादक एडिथ ग्रॉसमैन भी उनके लिए सौभाग्य ले कर आयी। एडिथ ग्रॉसमैन ने मार्खेज़ को पूरी दुनिया में प्रसिद्धि दिलाने में अहम भूमिका अदा की। उनका लालन-पालन भी मुख्य रूप से स्त्रियों के द्वारा हुआ था। उनके अंतिम उपन्यास 'लव एंड असर डीमंस' पर एक स्त्री हिल्डा हिडाल्गा ने फ़िल्म बनायी है।

मार्खेज़ का लेखन इतना जीवंत है कि उसको पढ़ने पर सिनेमाई अनुभव होता है। उनकी कई रचनाओं पर फ़िल्में बनी हैं। उनका ख़ुद का सिनेमा से गहरा संबंध रहा है। बचपन से उन्होंने सिनेमा देखा था। उनके नाना उन्हें अपने साथ फ़िल्म दिखाने ले जाते थे। उनकी एक रचना में गाँव वाले सिनेमा न जाना तय करते हैं, क्योंकि जो चरित्र एक फ़िल्म में मर चुके हैं, उन्हें दूसरी फ़िल्म में फिर से जीवित स्वीकार नहीं कर पाते। उन्हें उस आदमी के लिए पुनः आँसू गिराना गवारा नहीं। मार्खेज़ ने कई फ़िल्मों के स्क्रीन प्ले लिखे। सिनेमा के प्रसिद्ध लोगों से उनकी दोस्ती थी। अपनी कहानियों में वे सिनेमा से जुड़ी बातें करते हैं। 'द सेंट्स' कहानी में वे ऐसा करते हैं। सिनेमा से जुड़े उनके जीवन पर एक किताब 'द सिनेमा इन लाइफ़ ऑफ़ गार्सिया मार्खेज़' उपलब्ध है।

नोबेल पुरस्कार पाने के बाद भी मार्खेज़ ने एक से एक नायाब रचनाएँ पाठकों को सौंपी। मार्खेज़ के माता-पिता का प्रेम विवाह हुआ था, जो आसान न था। दोनों की पारिवारिक स्थिति भिन्न थी, पर लुइसा और गैब्रियल एलिजिओ का प्रेम सारी बाधाओं के बावजूद फलित हुआ और दोनों ने एक लंबा वैवाहिक जीवन बिताया। इसी प्रेमकथा को मार्खेज़ ने 'लव इन द टाइम ऑफ़ कॉलरा' (1985) में चरितार्थ किया है। इस उपन्यास पर इसी नाम से एक फ़िल्म भी बनी। उपन्यास शाश्वत प्रेम की बात करता है, जिसमें नायक-नायिका किशोरावस्था में मिले थे और नायिका का विवाह किसी और से होता है। वह अपने डॉक्टर पति एवं बच्चों के साथ दशकों तक समाज में सम्मानित जीवन बिताती है और जब पति की मृत्यु हो जाती है तो उसका प्रेमी फिर उसके समक्ष अपना प्रेम-प्रस्ताव रखता है और वह उसे स्वीकार कर उसके साथ चल पड़ती है।

गैब्रियल गार्सिया मार्खेज़ दुनिया घूमते, दोस्ती-यारी निभाते, पर अनुशासित ढंग से नियमित लेखन करते। वे कैंसर से ग्रस्त हुए तो उन्होंने सार्वजनिक जीवन से ख़ुद को समेट लिया, पर लिखना जारी रहा। उनके घर कई देशों और शहरों में हैं। वे अपने मैक्सिकन सिटी, बोगोटा, कार्टीजीना, हवाना के घर में बराबर आते-जाते रहते थे। उन्हें उनके दोस्त फिदेल कास्त्रो ने हवाना में भी घर दिया हुआ था। इसी तरह अमेरिका में भी उनके ठहरने के लिए निश्चित स्थान थे। वे राष्ट्रपति के मेहमान हुआ करते थे। कास्त्रो से उनकी दोस्ती की बराबर आलोचना होती थी, मगर उनका कहना था, 'ये दोस्ती हम नहीं छोड़ेंगे।' दोनों को जोड़ने का माध्यम राजनीति से अधिक साहित्यिक था। सार्वजनिक स्थानों से कटने के बाद भी वे सुबह पाँच बजे उठ जाते थे और दोपहर तक लिखा करते। दिन का बाक़ी समय वे इंटरव्यू देते, दोस्तों से मिलते और परिवार के साथ गुज़ारते। कैंसरग्रस्त होने के पहले सन् 1990 में उनका ऐतिहासिक उपन्यास 'द जनरल इन हिज़ लैबीरिंथ' प्रकाशित हुआ। इस जनरल की बात

उन्होंने अपने नाना से सुनी थी। वह नाना बाद में मार्खेज़ का हीरो बन गया। अपने इसी हीरो सिमोन बोलिवर की शौर्य गाथा उन्होंने इसमें कही है। उन्होंने इस ऐतिहासिक पात्र को सजीव कर दिया है। वे इसके जीवन के अंतिम सात महीनों की कहानी कहते हैं। यह उपन्यास बोलिवर की अंतिम यात्रा की बात करता है। इस दौरान यह जनरल बोगोटा से कोलंबिया की ओर जा रहा है। अपनी इस योजना में वह दक्षिण अमेरिका छोड़ कर यूरोप जा रहा है।

चार साल बाद सन् 1994 में मार्खेज़ का एक और कहानी संग्रह 'स्ट्रेंज पिलग्रिम्स' आया। प्रेम और मृत्यु मार्खेज़ की रचनाओं के दो प्रमुख स्वर हैं। यह कहानी संग्रह मृत्यु से जुड़ा हुआ है। इसकी भूमिका में वे ख़ुद अपने एक स्वप्न के बारे में लिखते हैं, जिसमें वे समारोही और प्रसन्न माहौल में अपने मित्रों के साथ अपने अंतिम संस्कार में शामिल हैं। इस संग्रह की बारह कहानियाँ मौत से संबंधित हैं। 'बोन व्याज', 'मिस्टर प्रेसिडेंट', 'द घोस्ट्स ऑफ़ अगस्त', 'द सेंट', 'स्लीपिंग ब्यूटी एंड दि एयरप्लेन', 'आई सेल माई ड्रीम्स', 'आई ओनली केम टु यूज़ द फ़ोन' आदि कहानियाँ इसमें हैं। एक कहानी है, 'सफ़ेद बर्फ़ पर लाल ख़ून की धार' जिसमें छोटी शादीशुदा लड़की की मौत का कारण अनजाने में काँटा चुभने और उसके ख़ून न जमने की बीमारी से ग्रस्त होना है। 'आई सेल माई ड्रीम्स' में दूसरों का स्वप्न और भविष्य बाँचने वाली फ्रीडा सुनामी की चपेट में आकर मरती है। एक और मार्मिक कहानी 'लाइट इज़ लाइक वाटर' में मौत का बहुत चमत्कारिक चित्रण है। 'संत' कहानी का पिता अपनी मृत बेटी को संत का दर्जा दिलाने के लिए उसका शव उठाए दशकों से सत्ता के गलियारों में चक्कर काट रहा है। एक और कहानी 'द हैंडसमेस्ट ड्राउंड मैन इन द वर्ल्ड' में एक डूबे आदमी की लाश बह कर एक गाँव में पहुँचती है। मज़े की बात यह है कि लाश ज़िंदा लोगों से अधिक सजीव है और गाँव की स्त्रियाँ उसके प्रेम में पड़ जाती हैं। उसे 'इस्टेबान' नाम देती हैं और गाँव वालों की कृपा से उसे दो बार मरने का अवसर मिलता है, दो बार उसका अंतिम संस्कार होता है ताकि वह फिर लौट कर उस गाँव में आए। इस संग्रह की तक़रीबन सब कहानियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की मौत से जुड़ी हैं। कहीं कोई डूब रहा है, कहीं मर कर तैर रहा है, कहीं कोई उजाड़ पार्क में बैठ कर मौत पर चिंतन कर रहा है। इस संग्रह की बारहों कहानियों के लोग लैटिन अमेरिका के हैं, पर वे विभिन्न देशों में रह रहे हैं। यह यूरोप में कई वर्ष अकेले रह रहे मार्खेज़ के अनुभवों का प्रतिफल है। वे काफ़ी समय के लिए यूरोप में फँस गए थे और उनके पास लौटने के लिए रक़म न थी।

और इसी साल उनका एक मार्मिक उपन्यास 'लव एंड अदर डीमंस' आया। यह उनके पत्रकार जीवन से जुड़ी घटना पर आधारित है, जिसे उन्होंने अपनी कल्पना के रंग से सजाया है। मार्खेज़ ने एक साक्षात्कार में कहा है, ''मैं एक पत्रकार हूँ। मैं सदा से एक पत्रकार रहा हूँ। मेरी किताबें न लिखी जातीं यदि मैं पत्रकार न होता, क्योंकि सारी सामग्री यथार्थ से ली गई है।'' इस उपन्यास में एक छोटी ख़ूबसूरत लंबे तांबई रंग के बाल वाली लड़की लोगों के अंधविश्वास और आपसी रंजिश का शिकार हो कर बुरी तरह मारी जाती है। इसकी

सामग्री उन्हें पत्रकारिता करते हुए प्राप्त हुई थी और इसमें उन्होंने अपनी नानी से सुनी कहानी का मिश्रण किया है। यह एक लड़की और एक पादरी के प्रेम की कहानी भी है।

मार्खेज़ का लेखन जितना जादुई है, उनका जीवन उससे कम जादुई नहीं है। इस बात की सच्चाई उनकी सन् 2002 में प्रकाशित आत्मकथा के प्रथम भाग 'लिविंग टु टेल द टेल' साबित करती है, जिसकी शुरुआत वे एक वाक्य से करते हैं, ''मेरी माँ ने मुझे अपने साथ घर बेचने चलने के लिए कहा... उन्हें यह नहीं बताना पड़ा—कौन-सा घर या कहाँ, क्योंकि हमारे लिए दुनिया में केवल एक घर था : मेरे नाना-नानी का।'' यह घर अराकटाका में स्थित था, जहाँ गैब्रियल गार्सिया का जन्म हुआ, जहाँ उनका बचपन बीता। उन पर अपने नाना का बहुत प्रभाव था। नाना सन् 1936 में गुज़र गए तो ये लोग अराकटाका से निकल कर सुक्रे में बसे और अब वे घर बेचने लौटे थे। यहीं से उन्होंने कल्पना के पंख पर उड़ना सीखा। यह उनका वही भरापूरा घर था, जिससे दूर होने पर, पढ़ने के लिए बाहर जाने पर उन्हें बहुत अकेलापन लगा था। जब यह कहानी शुरू हुई तब मार्खेज़ मात्र 22 साल के थे। उनका तेईसवाँ जन्मदिन बस आने ही वाला था। परिवार आर्थिक तंगी से गुज़र रहा था और माँ अपने पिता का घर बेचने अपने बेटे को साथ ले जा रही थीं। 14 साल के बाद वे लोग वहाँ लौट रहे थे, मगर वहाँ रहने के लिए नहीं, वहाँ से नाता तोड़ने के लिए। इस समय गाबो लेखक बनने का सपना पाल रहे थे।

एडिथ ग्रॉसमैन द्वारा इंग्लिश में अनूदित 'लिविंग टु टेल द टेल' की मैं कहानी कह रही हूँ, क्योंकि पूरी आत्मकथा मार्खेज़ की स्मृतियों पर आधारित है और एक कहानी का मज़ा देती है। यह आत्मकथा मात्र उनका और उनके परिवार का लेखा-जोखा नहीं है, यह कोलंबिया की ऐतिहासिक सच्चाई भी है। उस काल, उस वातावरण का चित्रण किया गया है, जिसने मार्खेज़ को मार्खेज़ बनाया, देश-दुनिया में प्रसिद्धि दिलाई, उन्हें जीते-जी एक किंवदंती बना दिया। उनकी जीवनी आगे न बढ़ सकी, लिखने के पूर्व ही मार्खेज़ 17 अप्रैल, 2014 को गुज़र गए। इसके प्रकाशित होते ही धड़ाधड़ इसकी समीक्षाएँ छपीं। मार्खेज़ की किताब का प्रकाशन देश-दुनिया की एक बड़ी परिघटना हुआ करती थी। इस आत्मकथा के कई अध्याय उनके जादुई उपन्यास जैसा मज़ा देते हैं। पाठक इसे पढ़ते हुए लैटिन अमेरिका में पहुँच जाता है, उसके इतिहास, भूगोल और संस्कृति की सैर करता है। इसकी गर्मी को अनुभव करता है। इसके जंगलों का लुत्फ़ उठाता है।

माँ के साथ घर बेचने जाना गाबो के जीवन का सबसे यादगार अनुभव था। इसी यात्रा में वे अपनी माँ को स्पष्ट बता देते हैं कि लिखने के अलावा वे जीवन में कुछ और नहीं करने वाले। माँ उनकी बात समझ जाती है, मगर वह इस उधेड़बुन में है कि अपने बेटे की बात वह अपने पति से कैसे कहेगी, पति को कैसे समझाएगी। इस निर्णायक यात्रा में उन्होंने लेखक बनना तय कर लिया था। मार्खेज़ अपने लेखन का प्रथम गंभीर पड़ाव अपनी रचना 'लीफ़ स्टॉर्म' को मानते हैं। तीन चरित्रों को ले कर की गई रचना 'लीफ़ स्टॉर्म' एक भिन्न मिज़ाज की कहानी है। इसमें माकोंडो समाज के एक प्रतिष्ठित कर्नल के एक दोस्त ने

आत्महत्या की है। कैथोलिक धर्म में आत्महत्या पाप है। सब धर्मों में यह निकृष्ट कृत्य कहलाता है। अब चूँकि इस बेल्जियन डॉक्टर ने आत्महत्या की है। उसे क़ब्र में पहुँचाना कठिन है। कर्नल की पत्नी और बेटी भी नहीं चाहती कि वह उन्हें दफ़ना दें, मगर कर्नल ने तय कर लिया है कि वह अपने दोस्त का अंतिम-संस्कार करेगा। डॉक्टर के चरित्र पर धब्बा भी है, वह अपनी नौकरानी के साथ हमबिस्तर हुआ था। शहर के लोगों ने निर्णय कर लिया है कि भले ही डॉक्टर की लाश सड़ जाए, वे उसे दफ़नाने नहीं देंगे, क्योंकि उसने राजनीतिक संघर्ष के समय घायलों की सेवा नहीं की थी। मार्खेज़ का यह पहला काम भी उनके अन्य कामों की भाँति आत्मकथात्मक है। इस पहले काम में उनके आगे के लेखन के बीज देखे जा सकते हैं। उन्होंने डॉक्टर का चरित्र बचपन के अपने एक परिचित के आधार पर गढ़ा है। कल्पना को रंग देने के लिए उन्होंने वास्तविक चरित्रों में काफ़ी परिवर्तन किए हैं। उनके इस पहले काम को सन् 1952 में प्रकाशक ने नकार दिया था।

मार्खेज़ ने अपने समस्त लेखन में या तो पत्रकारिता के अनुभवों को वाणी दी है अथवा अपने परिवार और उनसे जुड़े लोगों को अपने काम में सजीव किया है। हाँ, सब कुछ वे मिथ में लपेट कर कहते हैं। इसी तरह उन्होंने अपनी रचना 'नो वन राइट्स टु द कर्नल्ज' लिखी है। यह स्पैनिश में सन् 1961 में प्रकाशित हुआ है। उसके पहले यह 'मिटो' नामक पत्रिका में सन् 1958 में प्रकाशित हो चुका था। यहाँ माकोंडो है और कर्नल है तथा कोलंबिया का इतिहास भी है और बनाना फ़ीवर से मरते लोग भी हैं। ये सब उनके कई अन्य कामों में भी आता है। पिछली सदी के पचास के दशक में कोलंबिया भयंकर मार-काट से गुज़रा था। कथा के कर्नल का इकलौता बेटा अगस्टिन इसी में मारा गया। इसे उपन्यासिका कहना अधिक उचित होगा। इसका शहर उस काल में मार्शल लॉ के दौर से गुज़र रहा है। बूढ़ा कर्नल अपनी पेंशन का इंतज़ार कर रहा है। वह नियम से हर शुक्रवार पोस्ट देखने जाता है, लेकिन पेंशन से जुड़ा उसका पत्र कभी नहीं आता। उसका धैर्य चुकने लगा है और बूढ़े पति-पत्नी को खाने के लाले पड़ गए हैं। घर की चीज़ें बेची जा चुकी हैं, मगर अपने बेटे की निशानी मुर्ग़े को कर्नल बेचना नहीं चाहता। और इस तरह उसे न केवल अपनी और अपनी पत्नी की भूख शांत करने का इंतज़ाम करना है, वरन मुर्ग़े के लिए दाना भी जुटाना है। पूरी उपन्यासिका में मुर्ग़ा छाया हुआ है। यह सामान्य मुर्ग़ा नहीं है, लड़ाई के लिए तैयार मुर्ग़ा है। सारे लोग उसकी बात करते हैं। मुर्ग़ा भविष्य की आशा और जीवन के यथार्थ तथा उसके बेतुकेपन का प्रतीक है। कर्नल के जीवन का केंद्र मुर्ग़ा पाठक का ध्यान खींचता है।

'दि ऑटम ऑफ़ द पैट्रियाक' गैब्रियल गार्सिया मार्खेज़ का एक महत्त्वपूर्ण काम है। इसमें वे करेबियन इलाक़े में तानाशाही और सत्ता शक्ति के भ्रष्ट दौर का जीवंत चित्र उपस्थित करते हैं। यह जटिल रचना स्वप्न जैसी शैली का प्रयोग करते हुए आगे बढ़ती है और प्रतीकों-संकेतों से लबरेज़ है। जैसे दासों के मालिक स्वयं भी दास होते हैं और दासों के साथ नष्ट होते हैं, ठीक वैसे ही तानाशाह भी अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के बंदी होते हैं। भीतर से भयभीत ये क्रूरता की हद तक जाते हैं। तानाशाही का काल अंधकारपूर्ण होता है और जीवन के काले पक्ष को सामने लाता है। इस कुकाल को मार्खेज़ बड़ी शिद्दत से स्पष्टता के साथ पाठक के

समक्ष प्रस्तुत करते हैं। अक्सर तानाशाही की शुरुआत परोपकार से होती है, परंतु शीघ्र सब कुछ छल-कपट में परिवर्तित हो जाता है। हितकारी कार्य अत्याचार में रूपायित हो जाते हैं। मार्खेज़ दिखाते हैं कि तानाशाह एक साथ सर्वोत्तम और निकृष्ट दोनों मानवीय स्वभाव के पुंज होते हैं। मार्खेज़ अपनी समस्त लेखकीय विशेषताओं के साथ छह अध्यायों तथा लंबे-लंबे वाक्यों में तानाशाह के मन की भीतरी परतों को खोलते हैं। तानाशाह मतलब एक मनोरोगी। इस पूरी किताब में तानाशाह छाया हुआ है, जैसे वह देश-दुनिया पर छा जाता है। इस स्वकेंद्रित व्यक्ति पर लिखी अपनी किताब को स्वयं मार्खेज़ 'शक्ति-सत्ता के एकाकीपन की कविता' कहते हैं। ऐसा एकाकी व्यक्ति प्रेम अनुभवविहीन होता है और असल में उसे सत्ता-शक्ति से कोई प्रसन्नता भी नहीं मिलती, पर वह सत्ता-शक्ति खोजता और उससे चिपका रहता है। यहाँ मनोविज्ञान और सत्ता के छद्म के समन्वय का अद्भुत मिश्रण है।

पत्रकारिता के फलस्वरूप 'न्यूज़ ऑफ़ अ किडनैपिंग' लिखा गया, जिसमें ड्रग डॉन पाब्लो एस्कोबार द्वारा प्रमुख लोगों को बंधक बनाए जाने का चित्रण है। बंधक बनाने वाला नशीली दवाओं का एक प्रमुख व्यापारी पाब्लो एस्कोबार अपनी कारस्तानी से सरकार की नीति बदलना चाहता है ताकि जब वह समर्पण करे तो अमेरिका में जा कर बस सके। नशीली चीज़ों के व्यापारी बहुत शक्तिशाली होते हैं। ये दुनिया के देशों को अपनी उँगली पर नचाते हैं। देश-दुनिया के नियम-क़ायदों की धज्जियाँ उड़ाते हैं। सारे मूल्यों को तहस-नहस कर डालते हैं। नशीले पदार्थों के व्यापार का अपराध से गहरा रिश्ता होता है। मार्खेज़ यहाँ भी अपनी निजी स्मृति का उपयोग करते हैं, क्योंकि वे इसके साक्षी रहे हैं। उन्होंने राजनीतिक उम्मीदवारों की हत्या होते देखी है और साहसी तथा ईमानदार नागरिकों के संघर्ष को भी देखा है। ऐसे नागरिक प्राणपण से चाहते हैं कि उनके देश में जनतंत्र क़ायम रहे, मगर ऐसे लोगों को इसकी क़ीमत चुकानी पड़ती है।

मार्खेज़ का अनाम नायक 90 साल का बूढ़ा है, उसने कभी शादी नहीं की, उसे कभी प्यार भी नहीं हुआ। वह सैकड़ों स्त्रियों के साथ सोया ज़रूर है। मार्खेज़ का नायक एक ही बच्ची के साथ साल भर सोता है। अपने मन से उसे डेल्गाडीना नाम देता है। मार्खेज़ के बूढ़े को विशुद्ध प्रेम और रोमांटिक दिवास्वप्न प्रसन्न करते हैं। और यह प्रसन्नता उसके जीवन के हर पहलू में सीझती चली जाती है और उसे सिक्त कर देती है। अपनी उम्र के बावजूद प्रेम के फलस्वरूप उसकी चाल में स्फूर्ति आ जाती है और चेहरे पर सदा मुस्कान दिखने लगती है। नतीजतन उसे देखने वालों का नज़रिया भी उसके प्रति बदल जाता है। कल का नाकारा व्यक्ति उनकी आँखों में अचानक हीरो बन जाता है। गैब्रियल गार्सिया मार्खेज़ अंत तक लिखते और अपने पाठकों को अपने जादुई स्पर्श से आह्लादित करते रहे। उन्होंने एक भरापूरा रंगारंग जीवन जिया और भरीपूरी, रंगारंग साहित्यिक थाती अपने पीछे छोड़ी है, जिसे पढ़ कर आने वाली पीढ़ियाँ आनंद उठाएँगी, चकित होंगी। चकित होंगी यह सोच कर कि ऐसा कोई जादुई लेखक इस धरती पर हुआ था।

संपर्क : 326, न्यू सीताराम डेरा, एग्रिको, जमशेदपुर-831009 (झारखंड); मो. 8789001919

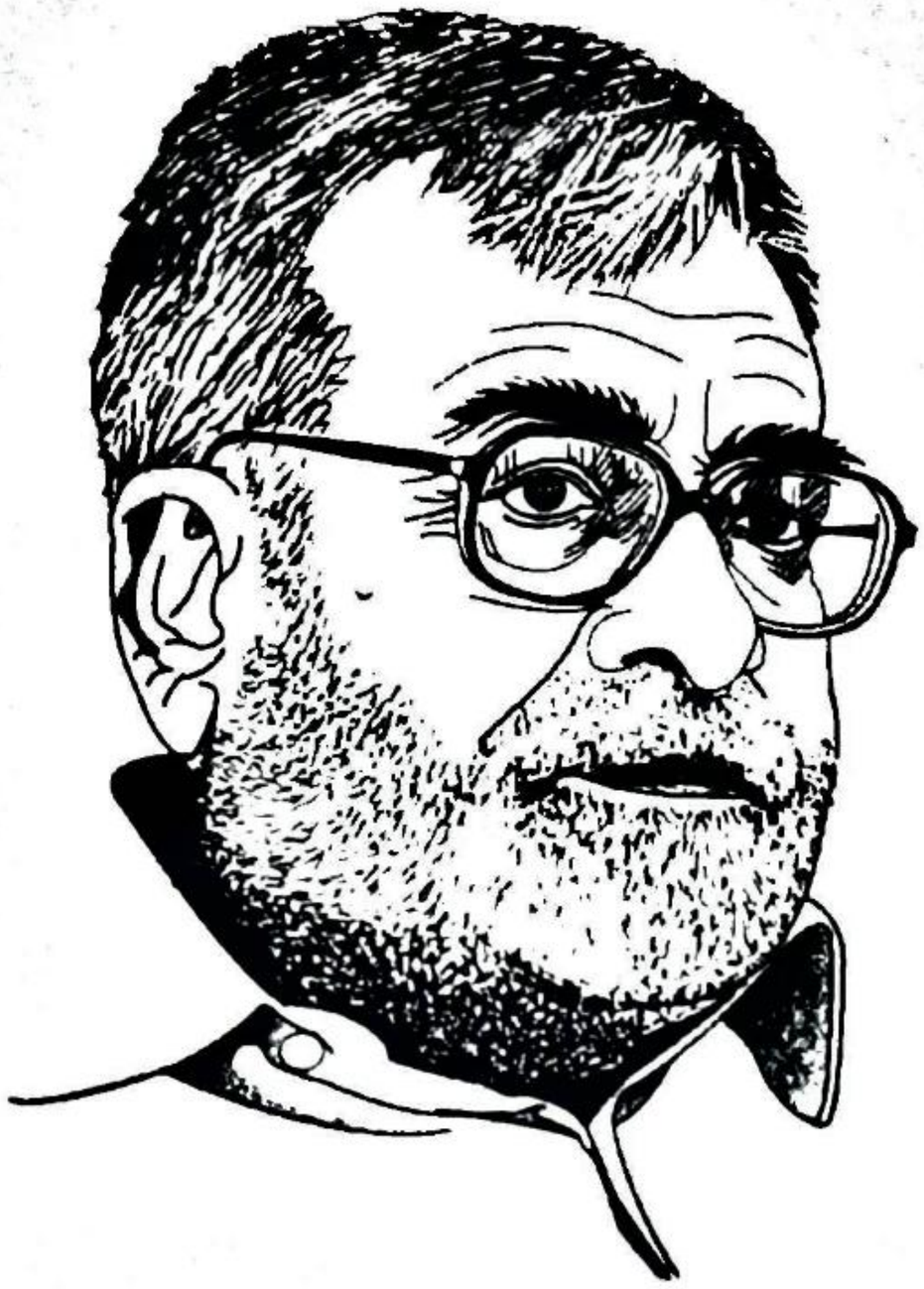

लोकप्रियता का कोल्ली दर्शन

प्रेम जनमेजय

कभी लियो तोल्सतॉय ने कहा था, 'दो महान योद्धा हैं—धैर्य और समय।' नरेंद्र कोहली ने अपने लेखकीय युद्ध इन्हीं दो योद्धाओं के बल पर लड़े। आज जिन नरेंद्र कोहली को युगप्रवर्तक साहित्यकार कहा जाता है और जो पूरे हिंदी जगत् में मिथकीय चरित्रों के आधुनिक कथाकार के रूप में विश्व प्रसिद्ध हैं, उन्हीं नरेंद्र कोहली को रामकथा पर आधारित पहली कृति 'दीक्षा' के आरंभिक समय में लेखकीय बिरादरी की उपेक्षा झेलनी पड़ी थी। एक समय ऐसा भी आया कि वे अवसाद में चले गए और एक होम्योपैथी डॉक्टर ने उनका इलाज किया। नरेंद्र कोहली का जन्म सियालकोट में 6 जनवरी, 1940 को हुआ था। सियालकोट इस समय पाकिस्तान में है। उनके परिचय में जब भी कोई, सियालकोट के बाद, कोष्ठक में ही सही, पाकिस्तान लिखता था तो वे रुष्ट हो जाते थे। उनका कहना था कि उनका जन्म अखंड भारत में हुआ था। परमानंद कोहली के सामान्य से परिवार में 6 जनवरी, 1940 का दिन कोई अति विशिष्ट घटना न रही हो, परंतु धीरे-धीरे यह दिन हिंदी साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण हो गया। नरेंद्र कुमार कोहली नाम का बालक, नरेंद्र कोहली के नाम से हिंदी साहित्य की विभूति बन गया। नरेंद्र कोहली का विपुल साहित्य ज्ञान का एक भंडार है, 'रामायण' के पन्ने बाँचने वाली माँ को कहाँ पता था कि जिस पुत्र को उन्होंने जन्म दिया

है, उसे आधुनिक युग का तुलसीदास कहा जाएगा। नरेंद्र कुमार कोहली से लोकप्रिय नरेंद्र कोहली होने का यह मार्ग क़तई सरल नहीं था।

नरेंद्र कोहली को युगप्रवर्तक साहित्यकार आलोचकों के किसी गिरोह ने नहीं बनाया, उन्होंने तो उपेक्षा का विष ही पिलाया। नरेंद्र कोहली को कभी 'श्रेष्ठी' आलोचक नहीं मिले, क्योंकि नरेंद्र कोहली ने आरंभ में इसके लिए चाहे प्रयत्न किए, पर धीरे-धीरे अपने लेखन को समर्पित हो गए, प्रयत्न करने छोड़ दिए। जब आप अछूत हो गए तो आपका छुआ खाना-पीना तो वर्जित होता ही है, आपके विचार भी अछूत हो जाते हैं। दूसरे क्यों अपना 'स्वधर्म' भ्रष्ट करें? इसलिए नरेंद्र कोहली ने हिंदी साहित्य में, आलोचक की तुलना में लगभग अछूत समझे जाने वाले पाठक को अपनी शक्ति बनाया। वे तुलसी की तरह जनमानस में पहुँचे। तुलसी की तरह उन्होंने समाज में उच्च जीवन मूल्यों की स्थापना के लिए रामकथा को अपना आधार बनाया। उन्होंने पहली बार रामकथा को उपन्यास शृंखला के रूप में लिखा। तुलसी के बाद उन्होंने रामकथा को न केवल जनमानस में पहुँचाया अपितु राम के रूप में हमारे समय के अनुरूप एक आदर्श जननायक दिया। इसका अर्थ यह न लगाया जाए कि उन्होंने तुलसी के राम को अपनी रामकथा का आधार बनाया। उन्होंने जननायक तो दिया, पर नरेंद्र कोहली के राम तुलसी के राम से एकदम भिन्न हैं। उन्होंने एक जगह लिखा भी है : "मेरी समझ में यह नहीं आया कि यह कैसे मान लिया कि मुझे भी वही लिखना है, जो तुलसीदास ने लिखा था। उनका ध्यान इस ओर क्यों नहीं गया कि मेरा व्यक्तित्व और समय तुलसीदास से भिन्न है, मेरी विधा तुलसीदास से भिन्न है और मेरा लक्ष्य तुलसीदास से भिन्न है। मैं अपना उपन्यास लिख रहा था। तुलसीदास का न तो अनुकरण कर रहा था, न ही स्वयं को उनसे श्रेष्ठतर सिद्ध करने की होड़ में उन्हीं के विषयों और चरित्रों को माँज रहा था।"

कभी अल्बर्ट कामू ने लेखक का उद्देश्य रेखांकित करते हुए कहा था : "लेखन का उद्देश्य मानव सभ्यता को स्वयं से नष्ट होने से बचाना है।" इसी महत् उद्देश्य के कारण आज की भयानक त्रासदी में उनका लिखा 'प्लेग' प्रासंगिक हो रहा है। पिछले लगभग एक वर्ष से कोरोना मानवीय सभ्यता, जीवन मूल्यों और मानव जीवन की बलि ले रहा है। बहुत भयावह समय है। इसकी भयावहता तब और अधिक विकराल होती है, जब कोई अपना इसकी बलि चढ़ता है। तब समझ आता है कि कोरोना ने जिनको ग्रसित किया, वे केवल समाचार भर नहीं हैं। कितना विवशता भरा समय है जिसने हमें असहाय और अकेला कर दिया है। जिन कंधों पर रोकर हम अपनों का साथ अनुभव कर सकते हैं, वही कंधे हमसे छिन गए। पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री, पोता-पोती आदि बेहद क़रीबी दिवंगत के अंतिम दर्शन तक नहीं कर सकते। एक भय जी रहे हैं। ऐसा ही अकेलापन और भय मानव जाति ने 'प्लेग' महामारी के समय में जिया था। समकालीन विश्व साहित्य में महामारी पर विशद् कृति अल्बर्ट कामू के 'प्लेग' को ही माना जाता है। इसमें भी उन्होंने समाज की हृदयहीनता को रेखांकित किया था। आपदा आती है तो लोगों के असली रंग दिखने लगते हैं, पर संकट के

दौरान एकजुटता एक बड़ी थीम है। उन्होंने एकजुट होकर संघर्ष करने को ही मार्ग माना है। उनका मानना है कि भविष्य के लिए जो पास है उसे अपने आज को समर्पित कर दें।

नरेंद्र कोहली के संदर्भ में कामू के इस प्रसंग की चर्चा का मेरा लक्ष्य यह है कि जिस 'दीक्षा' ने नरेंद्र कोहली को युगप्रवर्तक साहित्यकार बनाया, उसके पीछे मानव सभ्यता को नष्ट होने से बचाने के लिए एक नायक देना था। एक ऐसा नायक जिसमें शील, चिंतन और कर्म का समन्वय हो। आज के व्यक्तिवादी समाज में स्वयं को अकेला पा रहे मनुष्य को संघर्ष की चेतना से संपन्न ऐसा नायक देना जिस पर वह भरोसा कर सके और मानव मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्ष से भयभीत हो कायर न बने। एक बातचीत में नरेंद्र कोहली ने पुराकथाओं को अपने विचार के संप्रेषण का माध्यम बनाने के संदर्भ में कहा था, ''जीवन की मूल वृत्तियाँ वही हैं। इसलिए मैं जीवन को केवल अख़बारों या सामयिक घटनाओं तक सीमित नहीं कर सकता। मेरे लिए जीवन अनंत तक फैला हुआ है। अगर आप सामग्री अख़बारों से ले सकते हैं, समकालीन जीवन से ले सकते हैं तो इतिहास या पुराणों से क्यों नहीं? मूल चीज़ है जीवन को समझना। तुमने जीवन मूल्यों की बात कही, जिन जीवन मूल्यों को लेकर पौराणिक लोग जी रहे थे, उसकी तो आज के जीवन में हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। क्या आज सोच सकते हो ऐसे व्यक्ति के विषय में, जिसने काम को ही जीत लिया हो? यथार्थ के नाम पर निकृष्ट चरित्रों का चित्रण करना उचित है और जिन चरित्रों में उदात्तमता है उनका चित्रण करना पोंगापंथ है। मेरा आकर्षण उन चरित्रों के प्रति अधिक है जो सचमुच उदात्त आदर्शों को लेकर जिए।''

नरेंद्र कोहली के लेखन का उद्देश्य उदात्त आदर्शों की स्थापना था और इसके लिए उन्हें राम-कृष्ण आदि चरित्रों की आवश्यकता थी। और यह भी कि ऐसे ईश्वरीय चरित्रों के चित्रण के लिए ऐसी कलम की आवश्यकता थी जो उदात्त चरित्रों को चित्रित कर सके। बहुत आवश्यक था कि नरेंद्र कोहली लेखन के उदात्त गुणों को ग्रहण करने की राह पर चलते। हम सबने कबीर का दोहा अनेक बार पढ़ा होगा—गुरु गोविंद दोउ खड़े... कबीर की दृष्टि में गुरु गोविंद से श्रेष्ठ हैं, पर नरेंद्र कोहली लेखक को ईश्वर के सादृश्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में लेखक का दर्जा ईश्वर के समान है। 'दीक्षा' में जब विश्वामित्र सिद्धाश्रम से राम-लक्ष्मण के साथ चलते हैं तो पच्चीस वर्षीय स्मृतियाँ भी उनके साथ चलती हैं। विश्वामित्र राम-लक्ष्मण से कहते हैं कि वे उन्हें गौतम की कथा सुनाएँगे। दासियों द्वारा सुनाई गईं पशु-पक्षियों की कथाओं से ऊबा बालमन उत्सुक होकर प्रश्न करता है। यहाँ मुझे लगा कि जैसे विश्वामित्र पात्र के रूप में नरेंद्र कोहली का लेखक अपनी रचना प्रक्रिया, अपने लेखकीय उद्देश्य और लेखक के उदात्त स्वरूप को रेखांकित कर रहा है।

''विश्वामित्र अनायास ही इन प्रश्नों का समाधान करने लगे, 'पुत्र! जो कुछ मैं सुनाने जा रहा हूँ, है वह इतिहास ही। संभव है, इसके कुछ अंश उड़ते-उड़ते तुमने कहीं से सुने भी हों, पर मैं इसे इतिहास के रूप में नहीं सुना रहा हूँ, कथा के रूप में ही सुनाऊँगा। यह इसलिए

कि मैं तुम्हें वह सब भी बता सकूँ, जो कुछ मैंने देखा है, जो कुछ मैंने सुना है, जो कुछ मैंने समझा और अनुमान किया है, जो कुछ मैंने कल्पना की है।'

'कथा क्या ऐसे बनती है, गुरुवर?' लक्ष्मण की आँखों में विस्मय था।

'हाँ, पुत्र! कथा ऐसे ही बनती है।' विश्वामित्र बोले, 'जब आख्याता ईश्वर के समान सर्वज्ञ होकर, तथ्यों और पात्रों के मन में जा समाता है—वह सब कुछ जानता है। वह तथ्यों और पात्रों के आर-पार देख सकता है, पारदर्शी स्वच्छ जल के समान, जब उसकी सूचनाओं में कोई अभाव नहीं रहता, कुछ छूटता नहीं, वह सारी रिक्तियाँ अपनी कल्पना और अनुभूति से भर देता है तो वह कथा होती है, लक्ष्मण'!''

'दीक्षा' से पूर्व सन् 1972 में 'पुनरारंभ', 'आतंक' सन् 1973 में, 'आश्रितों का विद्रोह', सन् 1974 में 'साथ सहा गया दुख' और सन् 1975 में 'मेरा अपना संसार' प्रकाशित हो चुके थे। इसके साथ ही नरेंद्र कोहली ने जब लिखना आरंभ किया था, उस समय व्यंग्य के क्षेत्र में हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवींद्रनाथ त्यागी ही छाए हुए थे और ऐसे चुनौतीपूर्ण समय में किसी नए व्यंग्य लेखक के सामने न केवल इनको दोहराने के ख़तरे से बचने की अपितु विषय और शिल्प के धरातल पर कुछ नया प्रस्तुत करने की चुनौती थी। नरेंद्र कोहली ने इस चुनौती का सफलता के साथ सामना किया। शिल्पगत वैविध्य का हिंदी व्यंग्य साहित्य में अभाव रहा है, पर इस अभाव को नरेंद्र कोहली ने तोड़ा। हिंदी व्यंग्य वस्तुनिष्ठ अधिक रहा है। यही कारण है कि हिंदी व्यंग्य के रचनाकारों ने कथ्य की विविधता पर अधिक बल दिया है। हिंदी व्यंग्य साहित्य में एब्सर्ड उपन्यासों के वे एकमात्र सर्जक हैं, इतने मात्र कि वे एब्सर्ड रचनाओं का पुनः सृजन नहीं कर पाए। पाँच एब्सर्ड उपन्यास प्रयोग-मात्र ही रह गया।

नरेंद्र कोहली हिंदी साहित्य में दख़ल तो दे रहे थे, पर एक अलग पहचान नहीं बन रही थी। व्यंग्य साहित्य में अलग पहचान के लिए उन्हें परसाई, जोशी, शुक्ल और त्यागी की पीढ़ी से संघर्ष जैसा करना था। नरेंद्र कोहली को एक अलग पहचान दी उपन्यास 'दीक्षा' के प्रकाशन ने।

यदि मैं कहूँ कि 'दीक्षा' के बीज 'आतंक' उपन्यास लिखते समय पड़ने आरंभ हो गए थे तो अत्युक्ति न होगी। और 'आतंक' उपन्यास का बीज जिस घटना से पड़ा, उसका मैं साक्षी हूँ। मैंने सन् 1966 में हस्तिनापुर कॉलेज, मोती बाग़ में मैथ्स ऑनर्स में प्रवेश लिया था, पर उन दिनों छपी अपनी कहानी को किसी हिंदी के प्राध्यापक को दिखाने के मोह ने मुझे हिंदी ऑनर्स का छात्र बनने को 'विवश' किया, किंतु इस विवशता ने मुझे स्वर्णिम भविष्य दिया और दिए नरेंद्र कोहली, कैलाश वाजपेयी जैसे गुरु। नरेंद्र कोहली से शिष्य और अध्यापक से आरंभ हुआ मेरा संबंध धीरे-धीरे गुरु और अभिभावक में परिवर्तित हो गया। नरेंद्र कोहली के साहित्यिक रूप से पहले उनके ईमानदार शिक्षक ने बाँधा, फिर सत्यनिष्ठ संवेदनशील व्यक्तित्व ने। संभवतः सन् 1967-68 की बात है। उस दिन मेरी क्लास कुछ विलंब से थी। जब मैं रामकृष्णपुरम् के सेक्टर-1 से अपनी साइकिल घसीटते कॉलेज पहुँचा

तो पता चला कि कॉलेज बंद है। सुबह एक हंगामा हुआ है। एक लड़के ने दूसरे लड़के पर हत्या के इरादे से चाक़ू से तीन वार किए हैं। सबकी ज़ुबान पर एक साहसी नाम था—नरेंद्र कोहली। जब एक लड़का दूसरे लड़के को चाक़ू मार रहा था, दो-ढाई सौ छात्र खड़े थे, पर खड़े हुए छात्रों में हिम्मत न हुई कि वे बीच-बचाव करें। नरेंद्र कोहली बीच-बचाव करने कूद पड़े। उन्हें देख चाक़ू मारने वाला लड़का भाग गया। मैं स्टाफ़ रूम में गया तो देखा—नरेंद्र कोहली को लगभग सभी अध्यापकों ने घेरा हुआ है। नरेंद्र कोहली के चेहरे पर बदहवासी-सी थी। वे इस घटना के कारण हिले हुए थे। इस घटना ने उनके मन में कई सवाल खड़े कर दिए थे। उन्होंने इस घटना की चर्चा करते हुए कहीं लिखा भी है : "...पता चला कि चाक़ू मारने की योजना बनते ही पुलिस को उसकी सूचना दे दी गई थी और उनका शुल्क भिजवा दिया गया था। इसलिए यह पहले से तय था कि पुलिस वहाँ नहीं आएगी। मुझे लगा कि मैं समाज में हूँ, पर समाज कहीं नहीं है। कोई भी किसी व्यक्ति को सैकड़ों लोगों की उपस्थिति में चाक़ू मार सकता है। पुलिस है किंतु प्रशासन कहीं नहीं है। वह पैसा लेकर चाक़ू मारने वाले के गिरोह में मिल जाती है। उसकी पक्षधर हो जाती है। देश में सरकार है, परंतु शासन कहीं नहीं है।"

ऐसे सामाजिक सरोकारों से युक्त सोच एवं विसंगतियों पर तीखा प्रहार करने वाले निर्भीक नरेंद्र कोहली मेरी सोच का हिस्सा बन युवा मन में जैसे कहीं गहरे प्रवेश कर गए।

नरेंद्र कोहली ने अपने समय की विसंगतियों, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक प्रश्नों से मुठभेड़ कर उनके हल पुराकथाओं में ढूँढ़ने की अपनी सोच को 'आतंक' जैसे उपन्यास के स्थान पर रामकथा को सक्षम माना। वे लिखते हैं : "सन् 1972 में मेरा उपन्यास 'आतंक' प्रकाशित हुआ था, जिसमें समकालीन जीवन के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आतंक के नीचे डरे-सहमे लोगों का चित्रण किया गया था।" उस आतंक के मूल में थी सत्तालिप्त राजनीति। मित्रें ने शिकायत की कि उपन्यास में शोषणचक्र चलाने वाली दमनकारी राजनीतिक सत्ता तो है, किंतु उसके विरोध में शस्त्र लेकर उठ खड़े होने वाले जुझारू लोग नहीं हैं। एक गोष्ठी में उपन्यास पर आरोप लगाया गया कि नायक के हताश हो जाने तथा एकमात्र जुझारू पुलिस अधिकारी के स्थानांतरित कर दिए जाने से उपन्यास के अंत में निराशा छा जाती है। समीक्षकों और पाठकों का मत था कि सघन निराशा के मध्य भी आशा की एक मशाल जलनी ही चाहिए। ऐसा नायक होना ही चाहिए, जो अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष कर, समाज को बल दे, प्रेरित करे, उकसाए। साहित्य समाज को हताश करने के लिए नहीं, उसे ऊर्जा देने के लिए होता है।

ऐसा नहीं कि मैं यह जानता अथवा मानता नहीं था, किंतु यथार्थ चित्रण करने वाला उपन्यासकार ऐसे चरित्रों को कैसे प्रस्तुत करे, जो उसके समकालीन जीवन में हों ही नहीं। आज के युग में लोगों का विश्वासभाजन जैसा जुझारू चरित्र हमें चाहिए, वैसा कहीं है ही नहीं। अत: उसका निर्माण करना होगा। ऐसे में लेखक का मन या तो फंतासी की ओर मुड़ता है या मिथक, पुराकथाओं अथवा इतिहास की ओर। फंतासी का प्रयोग मैंने 'आश्रितों का

विद्रोह' में किया था किंतु उससे पाठक का तादात्म्य ऐसा नहीं था, जो मुझे उसके पुनर्प्रयोग के लिए उत्साहित करता। मेरा मन ऐसे संघर्षशील नायकों को खोजता हुआ, गाँधी से लेनिन, माओ तथा हो चि मिन्ह तक गया, किंतु गाँधी ने कभी शस्त्र उठाया नहीं था और अन्य लोग विदेशी थे। हमारे परिवेश तथा संस्कार एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न थे। बुद्धि को ग्राह्य होते हुए भी मेरा सर्जक मन नकार में सिर हिला रहा था और कहीं यह भी लगता था कि पाठक की संवेदना भी, परिवेश, संस्कार और परंपरा की भिन्नता, नवीनता तथा अपरिचय के कारण शायद उनके साथ तादात्म्य न कर पाए...उस समय राम मेरे लिए शुद्ध रूप से संसार की एक ऐसी सर्वोपरि सात्विक शक्ति थे, जो अत्याचारियों के काल थे, जो दलितों और पीड़ितों के सहायक थे। संसार में धर्मपरायण लोगों के जीवन, धन और सम्मान की रक्षा कर सकते थे। वे सत्य और धर्म के योद्धा थे। उनके लिए तुलसी ने एकदम ठीक कहा था : 'विप्र, धेनु, सुर, संत हित लीन्ह मनुज अवतार।' वे परम रक्षक थे—सबके रक्षक थे, इसलिए मेरे भी रक्षक थे। इससे अधिक मैंने कुछ नहीं सोचा था। अंततः 'आतंक' के संवेनदनशील किंतु कर्म में असमर्थ बुद्धिजीवी डॉ. कपिला रामकथा के विश्वामित्र में परिणत हो गए। डॉ. कपिला का कॉलेज या आज के किसी भी विश्वविद्यालय का परिवेश सिद्धाश्रम में परिवर्तित हो गया और आज के धन तथा सत्तासंपन्न वर्ग की गुंडागर्दी सिद्धाश्रम में ताड़का, मारीच और सुबाहु की गुंडागर्दी में बदल गई। आज के विश्वविद्यालय के लिए मैं शस्त्रधारी डॉ. कपिला का निर्माण नहीं कर सकता था, किंतु सिद्धाश्रम में राम सरलता से जनवाहिनी बना कर राक्षसों पर सशस्त्र आक्रमण कर सकते थे।''

'दीक्षा' के लेखन की पृष्ठभूमि तैयार हुई और इसके साथ ही इसके लेखन के लिए आवश्यक अध्ययन, क्या लिखना है और क्या नहीं लिखना की सावधानियाँ और अपने अंदर ही नहीं, दूसरों के मन में उठते प्रश्नों के हल खोजने के लिए तार्किक मन की आधार भूमि का निर्माण। अपने एक आलेख में वे लिखते हैं : ''पच्चीसों वर्ष पौराणिक कृतियों के मध्य रह कर मेरा विचार बना है कि पौराणिक आख्यानों पर कलम उठाने से पहले, अपनी आधुनिक बौद्धिकता को कुछ शिथिल कर उन चरित्रों और उनके संदेश की वास्तविकता को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। बौने हाथों से आकाश छूने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए और न गंदे हाथों से चरणामृत लेना चाहिए। उन चरित्रों, उन घटनाओं और उनके चिंतन के यथार्थ को समझ कर उनका यथार्थ चित्रण करना चाहिए, यथार्थवादी चित्रण नहीं। पौराणिक मूल्य व्यवस्था मानवता के हित के लिए अमूल्य निधि है। उसे अपनी कलम से ध्वस्त करना अक्षम्य अपराध होगा।'

रामकथा को उपन्यास विधा में पिरोना एक बड़ी चुनौती थी, क्योंकि इससे पूर्व यह साहस किसी ने नहीं किया था। दूसरी और महत्त्वपूर्ण चुनौती थी अपने बौने हाथों को इतना शक्तिशाली बनाना कि उन चरित्रों, उन घटनाओं और उनके चिंतन के यथार्थ को समझ कर उनका यथार्थ चित्रण करें, न कि यथार्थवादी चित्रण। और सबसे बड़ी चुनौती थी अपने 'राम' को रचना। वाल्मीकि, कबीर, तुलसी आदि रामकथाकारों के राम से नरेंद्र कोहली के राम

कैसे भिन्न होंगे। वे हमारे समय के समाज से कैसे जुड़ेंगे और उनकी प्रासंगिकता क्या होगी? क्या हमारे समय के रावण को मारने के लिए उनके पौराणिक धनुष-बाण होंगे? नरेंद्र कोहली अपने राम को रूपायित करते हुए लिखते हैं : "अब मेरा सर्जक मन रामकथा को अपने परिवेश में देख रहा था। उसे इस कथा के माध्यम से अपनी बात कहने की अद्‌भुत संभावनाएँ दिखाई पड़ रही थीं। परिवर्तन की आवश्यकता मुझे नहीं थी, केवल देखने की अपनी दृष्टि को बनाए रखने की बात थी। बांग्लादेश में पाकिस्तानियों द्वारा सी.आई.ए. की सहायता से वहाँ के बुद्धिजीवियों की योजनाबद्ध हत्याएँ, रावण द्वारा ऋषियों की हत्याओं का अर्थ स्पष्ट कर रही थी। उन्नत सैनिक शक्ति, धन, प्रभुता तथा सत्ता से संपन्न और शिव और ब्रह्मा के वरदहस्त के नीचे सोने की लंका में सुरक्षित बैठा रावण किसी भी साम्राज्यवादी, पूँजीवादी महाशक्ति से भिन्न नहीं था। राक्षसों के भय की छाया में पलने वाले, उनके हस्तक्षेप से पीड़ित वानर राज्य, उन पिछड़े हुए छोटे देशों के रूप थे, जो महाशक्तियों के हस्तक्षेपों तथा अत्याचारों से परेशान रहते हुए भी कुछ कर नहीं सकते। ताड़कावन, चित्रकूट, दंडकवन तथा पंचवटी के राक्षस सैनिक स्कंधावार आज के दुर्बल देशों, छोटे द्वीपों और अधीनस्थ देशों में स्थापित साम्राज्यवादी सैनिक अड्डों से एकरूप थे। इंद्र तथा देव शक्ति एक ऐसी विकसित तथा उन्नत महाशक्ति थी, जो अपनी प्रतिबद्धता के विरुद्ध अपने स्वार्थी तथा विलासी दृष्टिकोण के कारण, मित्रता की आड़ में शोषण करती थी।"

नरेंद्र कोहली के राम जनवादी राम थे। 'दीक्षा' में नरेंद्र कोहली की स्थापना है कि विश्वामित्र से राम को राक्षसी संस्कृति का नाश करने की दीक्षा मिली और वनवास उनके लिए अवसर था। अहल्या शिला नहीं, विलासी इंद्र के प्रभाव के कारण शिलावत जीवन जी रही थी। इंद्र का विरोध करने का किसी में साहस नहीं था। राम में साहस था। राम ने कहा अहल्या नहीं, इंद्र दोषी है। राम ने अहल्या को समाज में पुनः सम्मान दिलाया। नरेंद्र कोहली ने तुलसी की तरह दास भक्ति में डूबकर आदर्श चरित्रों की रचना के लिए कलम नहीं उठाई अपितु राम कथा लेखन को सायास योजनाबद्ध रूप में लिखने का संकल्प लिया और राम के ऐसे चरित्र का निर्माण किया जो रावण की पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध वानर-भालू जैसी जनजातियों को एकत्रित कर उन्हें क्रांतिकारी नेतृत्व प्रदान करता है। यह सोच आधुनिक सोच के पाठक के अधिक समीप है। 'दीक्षा' रामकथा के माध्यम से हमारे समय को यथार्थवादी आधुनिक दृष्टि से देखने की उद्देश्यपूर्ण कृति है। उन्होंने राम के चरित्र को एक गंभीर, शोषण-विरोधी, मर्यादाशील, दलित-सहायक और असाधारण मानव के रूप में प्रस्तुत किया है।

नरेंद्र कोहली पूरी तैयारी के साथ जुट गए। उन्होंने लिखना आरंभ कर दिया, साथ ही अपने लिखे जा रहे पर लोगों की प्रतिक्रिया जानने के लिए कुछ गोष्ठियों में इसके अंश पढ़े। मैं लगभग हर गोष्ठी का हिस्सा था। राम-कथा के पहले खंड के रूप में 'दीक्षा' का पहला संस्करण दिसंबर, 1975 में छपा था। 'दीक्षा' में अमूल्य सहायता और सहयोग के लिए नरेंद्र कोहली ने प्रेम जनमेजय, भारत भूषण अग्रवाल, रमेश उपाध्याय, सुधीश पचौरी, दिविक

रमेश, मीरा सीकरी आदि आठ रचनाकारों का आभार स्वीकार किया है। यह आभार इसलिए है कि इन सब ने 'दीक्षा' सुनने के बाद सुझाव दिए और नरेंद्र कोहली ने उन्हें स्वीकार किया। यह भी देखें कि इसमें रमेश उपाध्याय, सुधीश पचौरी, दिविक रमेश और कुछ-कुछ मेरी जैसी सोच के लेखक हैं।

जैसे-जैसे नरेंद्र कोहली 'दीक्षा' लिखते गए, वैसे-वैसे वे अपने लिखे पर मोहित से भी होते गए। निश्चित है कि वे साहित्य की दुनिया में एक नई ज़मीन तैयार कर रहे थे, पर जैसा कि मैंने पहले कहा, यह राह सरल नहीं थी। यह नरेंद्र कोहली का अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी प्रोजेक्ट था जिसको प्रकाशकों और आलोचकों की आरंभ में उपेक्षा ही मिली। कितनी सरल नहीं थी, इसके लिए नरेंद्र कोहली की लिखी 'एक पांडुलिपि की यात्रा' पढ़ लें। 'एक पांडुलिपि की यात्रा' में नरेंद्र कोहली ने अपने फ़्रस्ट्रेशन, आक्रोश, अवसाद आदि का विस्तार से वर्णन किया है। अनेक श्रेष्ठ कृतियों के साथ ऐसा हुआ है कि उनकी यात्रा का पहला पड़ाव बहुत कष्टदायक रहा। उन्हें उपेक्षा का दर्द झेलना पड़ा। और जब यह दर्द नरेंद्र कोहली जैसे संवेदनशील लेखक को झेलना पड़ा हो तो आप उस दर्द की पीड़ा का अनुमान कर सकते हैं। उन दिनों 'धर्मयुग' ने न केवल नरेंद्र कोहली की 'परिणति' जैसी कहानियों को प्रकाशित किया अपितु 'परिणति' की समीक्षा भी प्रकाशित की। 'बैठे ठाले' में वे उन दिनों छाए हुए थे, पर विडंबना देखिए कि 'मानस का हंस' छापने वाले उसी 'धर्मयुग' ने 'दीक्षा' यह कहकर लौटाई कि हम ऐतिहासिक-पौराणिक उपन्यास छापने की स्थिति में नहीं हैं। 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' को कुछ अंश भेजे तो डाक से लौट आए। इसके बाद नरेंद्र कोहली लघु पत्रिकाओं की ओर मुड़े। 'कहानी', 'कहानीकार', 'नया प्रतीक', 'शब्द' आदि डेढ़ दर्ज़न पत्रिकाओं में अंश भेजे। इन सबने ससम्मान अंश प्रकाशित किए। यही नहीं, 'दीक्षा' की पांडुलिपि प्रकाशकों के द्वारे-द्वारे उपेक्षित होने को विवश हुई। इसी 'दीक्षा' की पांडुलिपि सभी महत्त्वपूर्ण प्रकाशकों द्वारा लौटाई गई थी। 'दीक्षा' का लेखन उनके लेखकीय जीवन की दिशा तय करने वाला एवं उनके लेखक को जीवित रखने वाली कृति का लेखन था। नरेंद्र कोहली को इससे बहुत अपेक्षाएँ थीं, परंतु जितनी आशाएँ उन्हें थीं, उतनी ही निराशा प्रकाशकों ने दी। कोई प्रकाशित करने तक को तैयार नहीं हुआ। एक अजीब से अवसाद ने उन्हें घेर लिया। तय किया कि अपने ख़र्चे से ही प्रकाशित करवाया जाएगा। यह तब था, जब उनकी बारह पुस्तकें प्रतिष्ठित प्रकाशकों के यहाँ से प्रकाशित हो चुकी थीं। पराग प्रकाशन उन दिनों आरंभ ही हुआ था। हताश होकर नरेंद्र कोहली ने प्रकाशक श्रीकृष्ण के समक्ष 'दीक्षा' को अपना पैसा लगाकर छापने का प्रस्ताव दिया। श्रीकृष्ण ने पढ़ा और रामकथा को अपनी पूँजी से छापने को तैयार हो गए। श्रीकृष्ण नाम के ही श्रीकृष्ण थे, पर रहन-सहन में वस्तुतः सुदामा थे, पर वे दूरदर्शी प्रकाशक थे। उन्होंने नरेंद्र कोहली से वचन लिया था कि जब तक वे न कहें, नरेंद्र कोहली इसे किसी अन्य प्रकाशक को नहीं देंगे। नरेंद्र कोहली ने यह वचन निभाया। रामकथा ने नरेंद्र कोहली को सर्वाधिक रॉयल्टी पाने वाला साहित्यकार तो बनाया ही, श्रीकृष्ण को सुदृढ़ आर्थिक आधार भी दिया।

सन् 1975 में 'दीक्षा' जब प्रकाशित होकर आई तो इसका भरपूर स्वागत हुआ। भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेंद्र कुमार, धर्मवीर भारती और सुधीश पचौरी आदि ने इसे सराहा था। भगवतीचरण वर्मा ने लिखा : ''मैंने आप में वह प्रतिभा देखी है जो आपको हिंदी के अग्रणी साहित्यकारों में ला देती है—रामकथा के आदि वाले अंश का कुछ भाग आपने (दीक्षा में) बड़ी कुशलता के साथ प्रस्तुत किया है, उसमें औपन्यासिकता है, पकड़ है।'' मार्क्सवादी चिंतक एवं लेखक यशपाल ने लिखा : ''आपने रामकथा, जिसे अनेक इतिहासकार मात्र पौराणिक आख्यान या मिथ ही मानते हैं, को यथाशक्ति यथार्थवादी तर्कसंगत व्याख्या देने का प्रयत्न किया है। अहल्या के मिथ को भी कल्पना से यथार्थ का आभास देने का अच्छा प्रयास है।''

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा (ये दीग़र बात है कि उनके शिष्यों ने कभी कुछ नहीं कहा), ''रामकथा को आपने एकदम नई दृष्टि से देखा है—'अवसर' में राम के चरित्र को आपने नई मानवीय दृष्टि से चित्रित किया है—इसमें सीता का जो चरित्र चित्रित किया है, वह बहुत ही आकर्षक है—सीता को कभी ऐसे तेजोदप्त रूप में चित्रित नहीं किया गया था। साथ ही सुमित्रा का चरित्र आपने बहुत तेजस्वी नारी के रूप में उकेरा है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि यथासंभव रामायण कथा की मूल घटनाओं को परिवर्तित किए बिना आपने उसकी एक मनोग्राही व्याख्या की है—पुस्तक आपके अध्ययन, मनन और चिंतन को उजागर करती है—'दीक्षा' में प्रौढ़ चिंतन के आधार पर रामकथा को आधुनिक संदर्भ प्रदान करने का साहसिक प्रयत्न किया गया है। बालकांड की प्रमुख घटनाओं तथा राम और विश्वामित्र के चरित्रों का विवेक सम्मत पुनराख्यान, राम के युगावतार रूप की तर्क पुष्ट व्याख्या उपन्यास की विशेष उपलब्धियाँ हैं।''

जैनेंद्र कुमार ने लिखा : ''अभी पुस्तक (पढ़कर) पूरी की है। मैं नहीं जानता उपन्यास से क्या अपेक्षा है और क्या उसका शिल्प होता है। प्रतीत होता है आपकी रचना उपन्यास के धर्म से ऊँचे उठकर कुछ शास्त्र की कक्षा तक बढ़ जाती है। मैं इसके लिए आपका कृतज्ञ हूँ और हार्दिक बधाई देता हूँ।'' धर्मवीर भारती ने लिखा : ''यूँ ही कुतूहलवश 'दीक्षा' के कुछ पन्ने पलटे और फिर उस पुस्तक ने ऐसा पकड़ा कि दोनों दिन पूरी शाम उसे पढ़कर ही ख़त्म किया। बधाई। चार खंडों में पूरी रामकथा एक बहुत बड़ा प्रोजेक्ट है—यदि आप आदि से अंत तक यह 'टेंपो' रख ले गए तो वह बहुत बड़ा काम होगा। इसमें सीता और अहल्या की छवियों की पार्श्व-कथाएँ बहुत सशक्त बन पड़ी हैं।''

विजयेंद्र स्नातक ने लिखा था : ''रामकथा की ऐसी साफ़-सुथरी, बुद्धिवादी, युगानुरूप व्याख्या पहले कभी नहीं लिखी गई। राम को, लक्ष्मण को, विश्वामित्र और अहल्या को समझने की इस उपन्यास में नितांत नूतन एवं स्वस्थ दृष्टि मिलती है। उपन्यास में प्रवाहपूर्ण प्रांजल शैली द्वारा लेखक ने अभिव्यंजना से भी रोचकता की सृष्टि की है। उपन्यास आद्यंत पठनीय और मननीय होने के साथ, सामाजिक न्याय को प्रस्तुत करता है। कथा को नया रूप देने में जिन प्रसंगों की अवतारणा लेखक ने अपनी कल्पना से की है, वे इतने प्रभावशाली

हैं कि लेखक के कलाकार रूप की सराहना करने को बाध्य होना पड़ता है। वस्तुत: यह केवल उपन्यास ही नहीं, रामकथा की युगानुरूप अभिनव व्याख्या भी है। पौराणिक कथाकाव्यों को आधुनिक संदर्भ में व्याख्यायित करना क्लिष्ट कल्पना है, जिसे दीक्षाकार ने सहज संभाव्य बनाया है, यही उसकी सबसे बड़ी सफलता है।'' सुधीश पचौरी ने 'कंक' में लिखा था : ''हमारे जनवादी आंदोलन की आवश्यकता है कि जनता के बीच इहलौकिकता का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो। ऐसी प्रत्येक कृति जो इस दिशा में मदद करती है, जनवादी आंदोलन का हिस्सा बन जाती है। इस दृष्टि से यह रामकथा हमारे लिए उपयोगी है।''

निश्चित ही 'दीक्षा' का स्वागत हुआ, पर वह तात्कालिक था। राम को जनवादी मानने वाले नरेंद्र कोहली के विरुद्ध धीरे-धीरे उठते विरोध के स्वर प्रबल हो गए और उन्हें साम्प्रदायिक रचनाकार सिद्ध किया जाने लगा। उन पर फ़तवे से जारी होने लगे। नरेंद्र कोहली अपनी पीड़ा का वर्णन करते हुए लिखते हैं : ''किसी लेखक को व्यावसायिक और ढर्रेवादी कह देना भी एक प्रकार से हत्या का प्रयत्न (अटेंप्टेड मर्डर) ही है। बहुत सुगम मार्ग है, किसी लेखक को लिखने से विरत करने का और पाठकों को उस लेखक से दूर रखने का। इसमें कोई प्रमाण नहीं देना पड़ता, कोई विश्लेषण नहीं करना पड़ता। बस, एक फ़तवा जारी करना पड़ता है, जो अनेक लोग वर्षों से करते आए हैं—एक ओर वे लोग थे, जो यह कह रहे थे कि 'रामायण' को नए ढंग से, हमारे युगानुकूल बनाकर, रामकथा को हमारी वेवलेंथ पर उपलब्ध करा दिया गया है, इसलिए हमको यह प्रीतिकर है। दूसरी ओर वे लोग थे, जो यह कह रहे थे कि हमारी धार्मिक कथा को परिवर्तित कर उसे विकृत और भ्रष्ट किया गया है। वे प्रसन्न नहीं थे। एक ओर वे लोग थे, जो यह कह रहे थे कि यह सामंती, साम्राज्यवादी, पुरानी मान्यताओं को स्थापित करने वाला लेखक है, इसलिए यह प्रगतिशील नहीं है। दूसरी तरफ़ वे लोग थे, जो यह कह रहे थे कि यह तो कम्युनिस्ट रामायण हो गई, इसमें तो आज के वे सारे सिद्धांत आ गए। तो मैं स्वयं नहीं जानता था कि यह किस पाठक के लिए है, किस उम्र के पाठक के लिए है, किस विचार के पाठक के लिए है। मुझे लगता है कि यह जीवन तो एक यात्रा है, इसका विकास होता है। अलग-अलग समय में अलग-अलग तरह के लोग साथ आते रहते हैं। एक समय था कि जब मैं प्रगतिशील लेखक संघ का उपाध्यक्ष था, एक वह समय था, जब मैं सी.पी.एम. (कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी) के प्रत्याशियों के लिए वोट माँगता फिरता था।'' नरेंद्र कोहली के इसी द्वंद्व ने उनसे उनके लेखन की राह तैयार की।

'दीक्षा' को पाठकों का भरपूर प्यार मिला। यहाँ तक कि वामपंथ के विरोधी दक्षिण पंथियों ने इसे राम नाम की लूट माना और नरेंद्र कोहली को लूट लिया। धीरे-धीरे नरेंद्र कोहली के पाठकों में राजनेता से लेकर रामकथा के सामान्य पाठक उनके अंध प्रशंसक बनने लगे। अटलबिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण अडवानी, सुषमा स्वराज जैसे राजनेताओं और विष्णुकांत शास्त्री जैसे विचारकों ने नरेंद कोहली द्वारा लिखित रामकथा को एक सुदृढ़ आधार दिया। नरेंद्र कोहली का व्यक्तित्व सांस्कृतिक मूल्यों के राष्ट्रवादी सोच के रचनाधर्मी के रूप में रेखांकित होने लगा। धीरे-धीरे वे राममय और कृष्णमय हो गए। वे इतने राममय हो गए कि

'रामजी की इच्छा' उनका मंत्र जैसा हो गया। रामजी की इच्छा का मंत्र उन्हें विष्णुकांत शास्त्री से मिला था। जनवादी राम से सांस्कृतिक मूल्यों के राष्ट्रवादी सोच के अपने परिवर्तन को रेखांकित करते हुए उन्होंने लिखा है : ''साहित्य जब अध्यात्म की ओर मुड़ता है, सूक्ष्मता की ओर जाता है तो वह आपको ईश्वर भी प्राप्त करवा सकता है। यदि आपकी दिशा सूक्ष्मता की ओर हो, अध्यात्म के आकाश की ओर हो, तो छोटे-मोटे ढूह और टीले आपकी आकांक्षा के पात्र नहीं रह जाते। अब मेरी स्थिति यह है कि कोई पुरस्कार नहीं मिलता तो उसके कारण न तो मैं पीड़ित होता हूँ और न ही किसी को अपना शत्रु समझता हूँ। किसी मान-सम्मान की अपेक्षा में किसी की दरबारदारी भी नहीं करता। ऐसा इसलिए है कि मुझे उनका यथार्थ, उनका गणित, समझ में आ गया है। मिला तो इंकार नहीं किया और नहीं मिला तो याचना में हाथ नहीं फैलाया। जब देने वाला ईश्वर है, तो न देने वाला भी ईश्वर ही है। आचार्य विष्णुकांत शास्त्री कहा करते थे कि मेरी इच्छा पूरी हुई तो राम जी की कृपा और यदि नहीं हुई तो रामजी की इच्छा। यह सकारात्मक चिंतन है।''

नरेंद्र कोहली से मुझे ही नहीं, अनेक लोगों को लेखन का संस्कार मिला है। हम लोग जब साहित्य की वर्णमाला भी नहीं जानते थे, घुटनों चलना भी नहीं जानते थे, उन्होंने श्रम की घुट्टी पिलाकर नन्हे-नन्हे क़दम चलना सिखाया। नरेंद्र कोहली का मेरे लेखकीय विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। नरेंद्र कोहली लेखन के अपने आरंभिक काल में न केवल अपने लेखन के प्रति सजग रहे, अपितु उन नवलेखकों के प्रति भी सजग-सहायक रहे जो घुटनों चलना सीख रहे थे। नए लेखकों की रचनाओं को गंभीरता से ठीक करना, उनके भाषा दोषों को सुधारना। आरंभ में इन गोष्ठियों में अधिकांशत: हिंदी ऑनर्स के ही छात्र थे। सन् 1967 में, हस्तिनापुर कॉलेज में 'लेखक मंडल' की गोष्ठियाँ आरंभ हुईं। यह एक प्रकार की रचनात्मक लेखन की कार्यशाला थी। आरंभ में यह गोष्ठियाँ सप्ताह में एक बार कॉलेज में ही होती थीं। लेखक-मंडल की गोष्ठी के स्थायी अध्यक्ष नरेंद्र कोहली होते थे। गोष्ठी में शामिल होने वाले रचनाकार के लिए शर्त थी कि वह अपनी नई रचना लेकर आएगा, उसका पाठ करेगा, तत्पश्चात् सभी अपनी तरह से प्रतिक्रिया ज़ाहिर करेंगे और हो सकेगा तो सुझाव देंगे तथा अंत में नरेंद्र कोहली रचना का 'छिद्रान्वेषण' करते थे।

आरंभ में कुछ गोष्ठियाँ कॉलेज में हुईं, परंतु नरेंद्र कोहली इन गोष्ठियों में निरंतरता चाहते थे। वे चाहते थे कि इसमें आने वाले छात्र, केवल छात्र होने तक न आएँ अपितु कॉलेज छोड़ने के बाद भी उनका इससे संबंध जुड़ा रहे। जैसे लेखक कभी रिटायर नहीं होता, कुछ इसी अंदाज़ में उनकी सोच थी कि विद्यार्थी आएँ तो छात्र के रूप में, पर एक लेखक के रूप में इसका हिस्सा बने रहें। कॉलेज में इसके आयोजन की व्यवस्था इसे सीमित कर रही थी। दूसरे 'लेखक मंडल' में अधिकांश संख्या लड़कियों की थी और नरेंद्र कोहली को विश्वास नहीं था कि अपनी सीमाओं के चलते लड़कियाँ अधिक समय तक 'लेखक मंडल' से जुड़ पाएँगी। उनकी आशंका कुछ हद तक सही भी रही। बहुत बार ऐसा हुआ कि मैं, जोगेंद्र और नरेंद्र कोहली ही उपस्थित हुए। 'लेखक मंडल' की कॉलेज में कक्षाओं के बाद होने वाली

गोष्ठियों में भाग लेने वाली लड़कियों के लिए घर जल्दी पहुँचने की चिंता होती। अत: अनेक बार या तो वे आती नहीं या फिर बीच में चली जातीं। दूसरे 'लेखक मंडल' में एक बड़ी शर्त यह थी कि आने वाला लेखक अपनी ताज़ा रचना लेकर आएगा। कवियों के लिए कविता लाना सरल था, पर गद्यकारों के लिए नया कुछ लाना बहुत कठिन-सा था। इस कारण नरेंद्र कोहली ने तय किया कि 'लेखक मंडल' की गोष्ठियाँ रविवार को उनके निवास-स्थान एस-362, ग्रेटर कैलाश पार्ट-1, नई दिल्ली में होंगी। गोष्ठी का समय सामान्यत: नौ बजे होता, पर दस बजे के लगभग गोष्ठी आरंभ हो पाती। आरंभ में इन गोष्ठियों में हस्तिनापुर कॉलेज से जुड़े लेखक ही होते। कुछ के नाम मुझे याद हैं—वीणा, रंजना, सुमन, जोगेंद्र सिंह, कुसुम, सुरेश कांत, राजेश कुमार, हरिमोहन शर्मा, दिनेश कपूर आदि। बाद में लोग जुड़ते और बिछुड़ते गए। इन गोष्ठियों में दिविक रमेश, सुधीश पचौरी, क्षमा शर्मा, बलराम, रमेश बतरा, मीरा सीकरी, तेजेंद्र शर्मा, गीता विज, शैलेंद्र, आशा जोशी, रमेश ठगेला आदि भी आते-जाते रहे। मैं निरंतर इन गोष्ठियों में शामिल रहा। कई बार तो किसी-किसी गोष्ठी में मैं, नरेंद्र कोहली और उनकी पत्नी मधुरिमा कोहली ही होते। इन गोष्ठियों का लाभ ये हुआ कि गोष्ठी के लिए नई रचना लिखने का दबाव रहता, नरेंद्र कोहली के पास आने वाली साहित्यिक पत्रिकाओं को पढ़ने का सुअवसर मिलता और रचनाएँ प्रकाशनार्थ किन पत्रिकाओं में भेजी जा सकती हैं, इसका परामर्श मिलता। नरेंद्र कोहली ने चाहे अपने लेखन का आरंभ कविताओं से किया, परंतु बहुत जल्दी उनका गद्यकार उन पर हावी हो गया और इतना कि नई कविता की इस हद तक कटु आलोचना करने लगा कि नए कवि 'लेखक मंडल' की गोष्ठी में आने से कतराने लगे। जिन नरेंद्र कोहली ने अपनी कविता कामिनी का श्राद्ध किया हो, वे अन्यों को क्यों बख़्शते! नरेंद्र कोहली अपने इस कविता 'प्रेम' के संबंध में स्वयं कहते हैं, "आरंभिक व्यंग्य-रचनाओं के रूप में मुझे अपनी कुछ लंबी कविताएँ याद आती हैं। (यह संपादकों का मेरे कवि पर उपकार ही था कि सैकड़ों की संख्या तक पहुँचती मेरी कविताओं में से कोई एक भी कविता किसी संपादक ने कभी प्रकाशित नहीं की। आज मैं उनके प्रति नतमस्तक हूँ कि उन्होंने ठीक समय पर अपना निर्णय दे दिया, अन्यथा उनकी भूल के कारण आज मैं कवि बनकर फ़जीहत झेल रहा होता।)

ऐसी पहली कविता 'इतना मत रोना मेरी राधे!' थी, जिसमें कृष्ण के विदेश गमन पर गोपियों के असंतुलित रुदन से लेकर, देश की सेवा के नाम पर कच्चे बाँध बाँधने-बँधवाने वाले ठेकेदारों, इंजीनियरों तथा मंत्रियों इत्यादि के प्रति अपना आक्रोश वक्रतापूर्वक प्रकट किया गया था। वह कविता मैं तब तक लोगों को सुनाता रहा, जब तक मेरे विरोधी (गुरु) ने मुझे नीचा दिखाने के लिए एक गोष्ठी में यह सिद्ध नहीं कर दिया कि वह रचना व्यंग्य तो है, किंतु कविता नहीं है। बात मेरी समझ में आ गई। मैंने तब भी उनके प्रति कृतज्ञता का अनुभव किया था और आज भी करता हूँ कि उन्होंने मुझे अपने व्यक्तित्व के प्रतिकूल विधा की ओर बढ़ने से बचा लिया। मैंने न केवल कवि बनने का हठ छोड़ दिया, वरन् उस कविता को भी गद्य में लिख डाला। सुखद आश्चर्य यह था कि उसे पहले ही संपादक ने अपनी

पत्रिका में प्रकाशित कर पारिश्रमिक के बीस रुपये भिजवा दिए। मैंने तत्काल अपनी अन्य व्यंग्यात्मक कविताओं में से 'कवित्व' घटा डाला और कविताई का श्राद्ध कर दिया।'' नरेंद्र कोहली ने न केवल अपनी कविता का श्राद्ध किया अपितु अपने अनेक छात्रों को विवश किया कि वे भी कविता कामिनी का श्राद्ध करें। मैंने उनकी बात आधी मानी। जब लगा कि यह बात कविता में कही जा सकती है तो कविता में कही और यह दीग़र बात है कि उसे स्वांत: सुखाय अथवा कहीं कविता पढ़ने का धर्मसंकट आ जाए तो पढ़ा जा सके की शैली में लिखा। कुछ कविताएँ प्रकाशित भी हुईं। यहाँ तक कि अतिथि आचार्य का धर्म निभाने के लिए और त्रिनिदाद एवं टोबैगो के सक्रिय पत्रकार, सांस्कृतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता की चुनौती पर सन् 2001 में 'जहाजी चालीसा' भी लिखा। 'जहाजी चलीसा' का लोकार्पण त्रिनिदाद टोबैगो के तत्कालीन प्रधानमंत्री बासदेव पांडेय ने किया था। मेरे द्वारा लिखी गई, नागार्जुन की प्रसिद्ध कविता 'बहुत दिनों के बाद' की पैरोडी 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुई थी। यह पैरोडी, आपातकाल में कुछ लेखकों की 'सत्तापक्षीय' भूमिका पर एक व्यंग्य था।

नरेंद्र कोहली ने 'लेखक मंडल' की परंपरा अपने गुरु चंद्रभूषण सिन्हा से ग्रहण की। इसी परंपरा के तहत उन्होंने कॉलेज में लेखक-मंडल की गोष्ठियाँ आरंभ कीं। मुझे लगता है कि जो संस्कार उन्होंने अपने गुरु से ग्रहण किए, लगभग वैसा ही उन्होंने अपनी नई पीढ़ी को देने का प्रयत्न किया। अपने गुरु के बारे में नरेंद्र कोहली ने लिखा है : ''किसी को हतोत्साहित करते उन्हें मैंने नहीं सुना।'' जबकि नरेंद्र कोहली से गोष्ठी में आए कवि अवश्य हतोत्साहित होते थे। यही नहीं, उनकी स्पष्टवादिता, जैसे इस कहानी को फाड़ दो, या फिर रचना में संशोधन करते तो कॉपी लाल कर देते। गोष्ठी में आने वालों में एक अनजाना-सा भय रहता। इस भय को उनके विद्यार्थी तो सह जाते, पर अन्य नहीं सह पाते।

मेरी स्मृति में इसके अनेक उदाहरण हैं। रंजना अरोड़ा हमारी कक्षा की छात्र थी और उसकी कहानी लेखन में रुचि थी। अपने लेखक मंडल के अनुभव उसने कुछ ऐसे लिखे हैं : ''नरेंद्र कोहली सर ने कॉलेज के प्रांगण में 'लेखक मंडल' गोष्ठी का आरंभ किया, परंतु कुछ कारणों से यह सिलसिला कॉलेज में अधिक नहीं चल सका। उन्होंने अपने घर में इसकी व्यवस्था आरंभ की। उनका घर ग्रेटर कैलाश में था और मैं सरोजिनी नगर में रहती थी। इतनी दूर जाना हम छात्रों के लिए संभव नहीं था। वहाँ कोई सीधी बस भी नहीं जाती थी। और फिर रविवार के दिन लड़की का कहानी पढ़ने के लिए जाना घरवालों के गले नहीं उतरता था। क्लास की हम तीन लड़कियाँ—मैं, कुसुम सेठी और वीणा गर्ग आरंभ में जाती थीं। वे दोनों मोती बाग़ में रहती थीं। वे नौरोजी नगर के बस स्टॉप पर आतीं, जहाँ मैं उनकी प्रतीक्षा कर रही होती, और मुझे साथ ले चलतीं। बस न मिलने के कारण हम समय से नहीं पहुँच पाते और सर की डाँट भी खाते। कुछ दिनों के बाद कुसुम और वीणा ने आना छोड़ दिया। अकेली रह गई मैं, पर विवाह के बाद मेरा जाना भी बंद हो गया।

गोष्ठी में प्रत्येक उपस्थित अपनी रचना सुनाता। उसकी रचना पर बारी-बारी से सब अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते और सुधार के लिए अपने सुझाव भी देते। अंत में कोहली सर

आलोचना करते हुए उचित सुझाव देते। अनेक बार उनकी आलोचना इतनी कटु हो जाती कि मुझे लगता, मैं यहाँ क्यों आ गई। उन्होंने एक-दो बार मेरी रचना पर प्रतिक्रिया दी कि इसे फाड़कर फेंक दो या फिर से लिखो। ऐसा सुनकर कभी-कभी तो ख़ूब रोना आता था। मन ही मन निश्चय कर लेती थी कि गोष्ठी में नहीं जाऊँगी। 'सर' सबके सामने बेइज़्ज़ती कर देते हैं। फिर कुछ समय पश्चात् मन शांत होने पर स्वयं को समझाती कि सर हमें अपना इतना बहुमूल्य समय देते हैं, निष्पक्ष आलोचना करते हैं, किसलिए? हमारे लाभ के लिए ही। हम बेहतर लिखना सीख जाएँ, इसलिए ही ना। ये सब वे नि:स्वार्थ भाव से करते हैं। चाय-पानी पर अपना ख़र्चा करते हैं। यदि वे हमें पूरे मन से कुछ सिखाते हैं या हमारा मार्गदर्शन करते हैं तो हमें भी पूरे मन से सीखना चाहिए। उनकी कटु आलोचना को आँवले की तरह लेना चाहिए।''

लेखक मंडल की गोष्ठियों का कभी-कभी वाला हिस्सा बलराम, रमेश बतरा और हरीश नवल भी बने। बलराम ने अपनी कहानी 'कलम हुए हाथ' पढ़ी थी, जिसकी नरेंद्र कोहली ने भरपूर प्रशंसा की थी। रमेश बतरा ने नरेंद्र कोहली के इस प्रयास की प्रशंसा करते हुए लिखा था : ''वह स्वयं ही लेखक नहीं बने। पढ़ने-पढ़ाने और अध्ययन करने के साथ-साथ कोहली जी ने अपने विद्यार्थियों को भी लिखने के लिए प्रेरित किया। इसके लिए उन्होंने हर रविवार को अपने ही घर पर एक गोष्ठी का आयोजन शुरू कर दिया। इन गोष्ठियों के नतीजे में उन्होंने बहुत से लेखकों का बाक़ायदा निर्माण भी किया। उनके निर्देशन में प्रेम जनमेजय, सुरेश कांत, सुभाष अखिल आदि लेखकों ने काफ़ी तरक्की की और किसी हद तक नाम भी कमाया।''

'लेखक मंडल' की एक ऐसी ही गोष्ठी में रमेशचंद्र शर्मा का नामकरण 'दिविक रमेश' हुआ। इस संदर्भ में दिविक रमेश ने लिखा है : ''डॉ. नरेंद्र कोहली अपने घर में साहित्यिक बैठकें किया करते थे जहाँ मैं भी जाता। वहीं मेरा नया नामकरण हुआ दिविक रमेश, जो कुछ दिनों तक रमेश दिविक-दिविक रमेश के द्वंद्व में भी फँसा रहा। दिविक के सहयोगी एक-दो कवियों को मेरा यह कर्म अच्छा नहीं लगा और वे मेरे इस उपनाम के लोकप्रिय होते जाने के साथ-साथ कुंठाओं के शिकार होते गए। मौक़ा मिलने पर मज़ाक़ भी उड़ाते और यह कहने से भी नहीं चूकते कि दिविक नाम रख लेने के कारण ही मेरी कविताएँ छप रही हैं। शुरू-शुरू में स्वयं मुझे भी अपना नाम अटपटा लगता था, लेकिन रचनाएँ मेरी अब भी बड़ी पत्रिकाओं जैसे-'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'कादंबिनी' आदि में नहीं छप पा रही थीं। हाँ, छोटी पत्रिकाओं में ज़रूर छपने लगी थीं। 'दिविक' शब्द के अर्थ को लेकर भी काफ़ी चर्चाएँ चलतीं। असल में यह शब्द दिल्ली विश्वविद्यालय कवि का संक्षिप्त रूप है।''

'लेखक मंडल' की एक गोष्ठी दिविक के काव्य संकलन 'रास्ते के बीच' पर नरेंद्र कोहली के निवास पर हुई, जिसमें अज्ञेय आए थे। अज्ञेय ने कहा कि क्षमा करें, मैंने पुस्तक नहीं पढ़ी है। इस कारण दिविक का ही नहीं, हम सबका मूड उखड़ गया। 'लेखक मंडल' के अंतर्गत ही 9 मार्च, 1980 को सुरेश कांत के व्यंग्य उपन्यास 'ब से बैंक' पर संगोष्ठी हुई

थी। इस गोष्ठी के अध्यक्ष ख़्वाजा बदीउज्जमाँ थे। विषय प्रर्वतन नरेंद्र कोहली ने किया था। इसमें हिमांशु जोशी, महीप सिंह, कन्हैयालाल नंदन, सुधीश पचौरी, द्रोणवीर कोहली, दिविक रमेश, रमेश बतरा, सुरेश उनियाल, बलराम, हरियश, राजेश कुमार और रमेश ठगेला आदि ने भाग लिया था। 'लेखक मंडल' की गोष्ठियों में नागार्जुन भी आते थे। मेरे समक्ष उनका 21 मई, 1977 का लिखा एक पत्र है : ''29 को कोहली के घर एक गोष्ठी रहेगी, फिर 30 की दोपहरिया आपके घर गुजारेंगे, यह भी तय रहा।

'सार्थक' का ताज़ा अंक तो अच्छा निकला—अगम गंभीर निबंध दो-एक भी हों तो आम पाठक का सिर चकराता है। सपाटपन और नीरसता से पत्रिका को बचाना होगा। सुपच और प्राणवंत रचनाओं का आग्रह ही लेखकों से रहे।'' 'लेखक मंडल' के तत्वावधान में ही सहयोगी आधार पर 'संबद्ध' नामक एक कहानी संग्रह का पराग प्रकाशन से प्रकाशन हुआ जिसमें आशा जोशी, दिनेश कपूर, नरेंद्र कोहली, नरेंद्र मौर्य, पूरबी बनर्जी, प्रेम जनमेजय, मीरा सीकरी, रंजना, राजेश कुमार, सुभाष अखिल, सुरेश कांत और हरीश नवल की कहानियाँ संकलित हुई थीं।

निरंतर सक्रिय रहना और अपने आसपास के लोगों को सक्रिय रखना नरेंद्र कोहली के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण अंग रहा। यदि काम सामने हो तो आलस उनको कोई चुनौती नहीं दे पाता था। लेखन एवं उससे जुड़े संदर्भों को साकार करने, नई साहित्यिक योजनाओं का निर्माण करने और उन्हें कार्यान्वित करने का पागलपन उनमें रहा। उन्होंने 'अतिमर्श' की योजना बनाई, वैशाली, पीतमपुरा में 'रचना' गोष्ठी आरंभ की, 'गोष्ठी' नामक अनियतकालीन लघु पत्रिका आरंभ की, घरघुस्सू नरेंद्र कोहली ने साहित्यिक यात्राएँ कीं, आदि-आदि।

अक्टूबर, 1972 में मेरी दयालसिंह कॉलेज (सांध्य) में नौकरी लगी तो नरेंद्र कोहली को संतोष हुआ कि मैं सेटल हो रहा हूँ। उन्होंने अक्टूबर, 1972 में त्रैमासिक पत्रिका 'अतिमर्श' की योजना बना डाली। इसके आर्थिक विषय पर जब मैंने पूछा तो बोले—ग्राहक बनाएँगे और जो शेष बचेगा, जेब से डालेंगे।

नरेंद्र कोहली का वाक्य ब्रह्म वाक्य-सा होता था, कह दिया तो टस से मस नहीं होते थे। अड़ जाएँ तो कोई उन्हें अपने फ़ैसले से डिगा नहीं सकता था, प्रिय पत्नी मधुरिमा भी नहीं, तो मैं क्या चीज़ था। हाँ, मुझे पचास ग्राहक बनाने का दायित्व सौंपा गया। मेरा मित्रों का दायरा बहुत बड़ा था, अत: मुझे कोई दिक़्क़त नहीं हुई। इस बारे में सुदर्शन का एक कमेंट मुझे बहुत अच्छा लगा। जब मैंने दूसरा अंक निकालते समय सुरजीत से ग्राहक शुल्क लिया तो सुदर्शन बोला, ''अबे इससे ही नहीं छूटेगा। यह मैगज़ीन तुझे पढ़नी भी पढ़ेगी। एक मास्टर की तरह कभी भी पूछ लेगा कि क्या पढ़ा...''

'अतिमर्श' के प्रबंधन और रचनात्मक सहयोग के लिए लेखक मंडल के अन्य सदस्य भी जुड़े। उनका सहयोग निरंतर नहीं था। निरंतर तो मैं, डॉ. कोहली, मधुरिमा जी और उनका पाँच वर्ष का बेटा कार्तिकेय था। उन दिनों मुद्रण कंप्यूटराइज़ नहीं था। गेली बनती, काट-

पीट कर पेज बनाए जाते। हमें यह काम करते देख कार्तिकेय को बहुत आनंद आता था। एक दिन वह भी एक कॉपी पर कुछ काग़ज़ चिपका कर ले आया और बोला—यह मेरा 'अतिमर्श' है।

पत्रिका निकालने का हमारा अनुभव न के बराबर था। पहला अंक हमने सन् 1973 की गर्मियों में, नरेंद्र कोहली के लम्बरेटा स्कूटर में बैठ कर ग्राहकों के घर उसी तरह बाँटा था जैसे सुबह-सुबह कोई अख़बार वाला बाँटता है। हमने डाक के पैसे बचाए थे, पर पेट्रोल पर पैसे बहुत ख़र्च किए थे। उस समय पेट्रोल चाहे कितना भी सस्ता रहा हो, पर इतना सस्ता नहीं कि डाक का मुक़ाबला कर सके। नरेंद्र कोहली ने इस प्रसंग का वर्णन एक संस्मरण में इस प्रकार किया है : "प्रेम कक्षा में ही नहीं, मेरी अन्य सारी गतिविधियों में भी मेरे साथ था। वह लेखक-मंडल में मेरे साथ था। कॉलेज की पत्रिका में साथ था। साहित्य परिषद् में साथ था। जब मैंने व्यक्तिगत रूप से 'अतिमर्श' का प्रकाशन आरंभ किया, तब भी वह मेरे साथ था। कम ख़र्च में पत्रिका को डाक से भेजने की अनुमति न होने के कारण हमें उस पर लगाई जाने वाली डाक टिकट काफ़ी ख़र्चीली लगती थी, इसलिए एक-एक अंक को दिल्ली के किसी कोने में उसके ग्राहक तक पहुँचाने के लिए मैं और प्रेम अपने स्कूटर पर सारे नगर में घूमते-फिरते थे। मैं स्कूटर चलाता था और वह पत्रिका के अंक लेकर पीछे बैठता था। हम जनकपुरी तक स्कूटर पर पत्रिका बाँटने गए थे। समय बचाने के लिए हमने किसी को दस्ती पत्रिका नहीं पकड़ाई, उसके घर डाकिए की तरह डाल भर दी।"

सन् 1972 में एक प्रसंग के कारण मैं अवसाद में आ गया था। नरेंद्र कोहली ने इसे पकड़ लिया था, पर कहा कुछ नहीं। इस प्रसंग पर मैंने एक कहानी लिखी 'सुरंग', जिसे पहले 'लेखक मंडल' में पढ़ा और वह बाद में 'नीहारिका' में प्रकाशित हुई। नरेंद्र कोहली को यह कहानी समझ आ गई। जनकपुरी से लौटते हुए, धौला कुआँ से काफ़ी पहले डॉ. कोहली ने जीवन में सेक्स और अपने धर्म के बीच किसकी प्राथमिकता हो, इस विषय में समझाना आरंभ किया। मैं स्कूटर के पीछे बैठा सुन रहा था। ऐसी बात संभवत: वे मेरी आँखों में आँखें डालकर नहीं कहना चाहते थे। शर्म को बचाए रखना चाहते थे। उन्होंने कहा कि तुम्हारा रचनाकर्म स्थायी रहेगा, पर काम स्थायी भाव नहीं है। आरंभ में आप प्रतिदिन इसका आनंद उठाते हैं, पर धीरे-धीरे सप्ताह और महीने के अंतराल पर आ जाते हैं। अंतत: इसकी भूख मर जाती है, पर लेखन की भूख कभी नहीं मरती। तुम सब कुछ भूलकर अपने भविष्य पर ध्यान दो।

सन् 1966 में नरेंद्र कोहली से अध्यापक-शिष्य के संबंध आरंभ हुए थे। पिछले 55 वर्षों में इन संबंधों में आत्मीयता का विकास होता रहा। इस बीच अनेक ऐसे अवसर आए जहाँ वैचारिक मतभेद उभरे, पर संबंधों में दरार नहीं आयी। विचार को लेकर एक तरह का प्रजातंत्र हमारे मध्य विद्यमान रहा। नरेंद्र कोहली से मेरे संबंधों के बारे में कहीं लिखा भी है : "उनके लिए नरेंद्र कोहली की भारतीयता और हिंदुत्व, अस्पृश्य हैं। ऐसे में यदि प्रेम जनमेजय,

नरेंद्र कोहली के साथ खड़ा होगा तो वे उसको अपनी बिरादरी से बाहर कर देंगे और यह प्रेम ही क्या, कोई भी लेखक सहन नहीं कर सकता। हो सकता है कि उसका आरंभ मेरी ओर से ही हुआ हो। प्रेम अब कुछ बदल ही नहीं गया है, पर्याप्त प्रौढ़ भी हो गया है। उसने अपने मन के अनेक जाले साफ़ कर लिये हैं। वह अब मुझे लेकर अपने साहित्यिक विरोधियों से आशंकित नहीं है।'' लोग मानते हैं कि नरेंद्र कोहली ने 'अभ्युदय' और 'महासमर' के माध्यम से आज के समय के प्रश्नों को पुराकथाओं से हल करने कर प्रयत्न किया है। वे उपन्यासकार थे, इसलिए प्रश्नों के हल खोजने के लिए उपन्यास का ही तानाबाना बुन सकते थे, पर उनकी सद्य: प्रकाशित कृति इस मिथ को तोड़ती है। 'समाज जिसमें मैं रहता हूँ' नरेंद्र कोहली के साहित्यिक व्यक्तित्व से भिन्न कृति है। यह उनकी अंतिम प्रकाशित कृति है, जो उन्हें बहुत पसंद थी। इसका एक अंश पिछले वर्ष 'समकालीन भारतीय साहित्य' में प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होंने भाषा, साहित्य, धर्म, व्यक्ति आदि पर बेबाकी से न केवल अपनी बात कही है, अपितु व्यंग्यात्मक ध्वनियों द्वारा कटाक्ष भी किया है। इसमें उनका केवल पुराकथा के रचनाकार, व्यंग्यकार, संस्मरण लेखक आदि का व्यक्तित्व मात्र नहीं है, अपितु हमारे समय के अनेक प्रश्नों से सीधा मुठभेड़ करने वाले समाज सुधारक का रूप भी उभरकर सामने आता है। इसे नरेंद्र कोहली की निजी यात्रा कहा जा सकता है जिसकी धारा में जो आया वो छूटा नहीं और जो छूट गया सो छूट गया। यह कृति कितनी रोचक है और क्या कहती है इसे चावल के इस दाने से समझ लें—अपने विवाह के बाद से ही मैं जिस समाज में रहा हूँ, जिन लोगों से मिलता-जुलता रहा हूँ, वे सब बड़े शिष्ट और मधुरभाषी लोग थे। वे किसी के घर जाते तो बड़ी गंभीरता से गृहस्वामिनी के वस्त्रों, उसके शृंगार, घर के बर्तनों और भोजन की प्रशंसा करते और आभारी ही नहीं होते, बलिहारी भी होते थे। मैं उस समाज में अत्यंत असभ्य और अशिष्ट ठहराया गया था। अब तो सनकी बूढ़ा भी मान लिया जाता हूँ।''

कोरोना काल ने उन्हें अकस्मात् हमसे छीन लिया है। उन्हें तो अभी बहुत कुछ कहना और लिखना था। क्या कहना और लिखना था इसका संकेत वे अपनी अंतिम कृति में दे चुके थे। वैसे इसे अंतिम न ही कहूँ तो बेहतर क्योंकि जानता हूँ कि उनके कंप्यूटर में विपुल सामग्री पड़ी होगी। मैंने उन पर चार पुस्तकें—'मेरे हिस्से के नरेंद्र कोहली', 'व्यंग्य सर्जक नरेंद्र कोहली', 'नरेंद्र कोहली एक मूल्यांकन' और 'नरेंद्र कोहली : एक शिनाख़्त' लिखी/ संपादित की है। 'नरेंद्र कोहली : एक शिनाख़्त' उनके 81वें जन्मदिन पर 6 जनवरी, 2021को उपहार के रूप में दी थी। वे इस पुस्तक से कुछ प्रसन्न और कुछ-कुछ रुष्ट थे। क्यों, यह फिर कभी।

संपर्क : 73, साक्षरा अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063; मो. 9811154440